

॥ अहम् ॥

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

✽ स्तोत्रत्रयी ✽

(सकलार्हस्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि ।)



पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगाणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।

सुणाव निवासी

धर्मप्रेमी श्रेष्ठीवर्य खीमचंदभाईनासुपुत्रों
नगीनदास तेमना धर्मपत्नी कमलावेन
कान्तिलाल तेमना धर्मपत्नी शारदावेन

तथा

खीमचंदभाईनावडिल्वन्धुनासुपुत्र
मणिलाल चुनीलालना धर्मपत्नी भुरीवेन
उपरोक्त त्रणेना धर्मपत्नीओनी' अट्टाईतपनी
तपश्चर्या निमित्ते सादर सप्रेम
स्वाध्यायार्थे भेट ।

श्री आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, अय्यपुर



आचार्य श्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

प. व. आचार्य श्रीविजयकन्तगुग्गिप्रियम्



पन्थामप्रवर श्रीकीर्तिकन्तविजयजी गणिवर

॥ अर्चम् ॥

श्रीविजय - नेमि - विज्ञान - कस्तूरसूरिमदुरुर्योनमः
कलिकालमर्वजश्रीहेमचन्द्राचार्यविगचिता-

* स्तोत्रत्रयी *

(सकलाऽर्हत्स्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि ।)

तपोगच्छाविपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्म-
चार्योचार्यवर्यश्रीद्विजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कारसमयजगान्तमूर्त्यो-
चार्यवर्यश्रीमद्विजयविज्ञानसूरिश्वर-पट्टधर-मिद्वान्तमहोदधि-
प्राकृतविद्विगारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-
पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिवरविरचित-
कीर्तिकलाव्याख्यान्निमूषिता ।

सम्पादक .—

विक्रम संवत् - २०१६

मुनि श्रीअजितचन्द्रविजयः ।

प्रकाशकीय

य पूज्य पन्थासम्प्रदाय श्रीकीर्तिकन्त्रविजयगणिकर महाराजसे रचित कीर्तिक्रमनामक संस्कृत तथा हिन्दीभाष्यासहित—कन्निका—सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यनिर्मित—स्तोत्रोमें, द्वात्रिंशिकाद्वयी (अन्योगन्त्रवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा अन्ययोगन्त्रवच्छेदद्वात्रिंशिक) तथा वीतरागस्तनके चार पुस्तकोंमें प्रकाशन हो चुके हैं। जिसका जैन समाज तथा अन्यस्तमी अच्छा स्वागत तथा आदर किया गया है। एवं विद्वानों-ने उनकी मुद्रकालसे प्रशंसाकी है।

प्रस्तुत स्तोत्रयी नामके दो ग्रन्थोंके प्रकाशनमें उक्त पन्थास महाराजके द्वारा निर्मित कीर्तिक्रमनामकी संस्कृतभाष्या तथा हिन्दीभाषानुवादसहित उक्त आचार्यमहाराजके तीन सफरसहितोत्र बीरबिनस्तोत्र म्हादेवस्तोत्र—स्तोत्रोक्त समावेश किया गया है। जैसे उक्त तीनों स्तोत्रोक्त संस्कृत तथा हिन्दीभाष्यासहित एक पुस्तक तथा केवल हिन्दीभाष्यासहित दूसरी पुस्तक।

सफरसहितोत्र उक्त आचार्यमहाराजविरचित प्रसिद्ध म्हाण् प्रणव त्रिपक्षितलाफपुरपचरितका भगवत्प्रारण है। इसका जैन समाजमें क्या स्थान है इस विषयमें कुछ कहना इन स्तोत्रकी प्रसिद्धि एवं आदर तथा प्रतिक्रमणप्रियामें अनिवायकप्रसे पाठ्यक्रम समावेशको देखते हुए—एक भूटना प्रैमे ही होगी। इस स्तोत्रके

संस्कृत, हिन्दी तथा गुजराती व्याख्यासहित अनेक प्रकाशन अन्यत्र हो चुके हैं। फिरभी कीर्तिकलाव्याख्याकी अपनी विलक्षणशैली, गन्द-प्रकरण आदिको ध्यानमें रखते हुए पदार्थ तथा भावार्थका स्पष्टीकरण, चमत्कारिक लो, ऐसे मनोग्राह्य अर्थोंका विश्लेषण तथा कर्त्ताके भावोंका प्रामाणिकरूपसे अधिकाधिक अनुसरण - आदि सभी विशिष्टतायें द्वात्रिंशिकाद्वयी तथा वीतरागस्तवके जैसे ही इस पुस्तक में भी अपने उत्कृष्टरूपसे विद्यमान हैं।

वीरजिनस्तोत्र उक्त आचार्यमहाराजविरचितप्रसिद्ध परिशिष्ट-पर्वका मंगलचरण है। तथा इस स्तोत्रका सकलार्हस्तोत्रके साथ ही बड़े आदर एवं भक्तिसे पाठ किया जाता है—यह विदित है।

महादेवस्तोत्र, प्रायः अतिसरल समझे जानेके कारण आज तक किसीभी व्याख्याताओंको आकृष्ट नहीं कर सका था—ऐसी सम्भावनाकी जा सकती है। किन्तु यहाँ यह विशेषतः ध्यान देने योग्य है कि—इस स्तोत्रके कितने श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं जैन समाजकी भावनाओंको अक्षरदेहमें अत्यन्तसरल एवं प्रभावोत्पादक रीतिसे व्यक्तकरते हैं। जैसे—इस स्तोत्रके अन्तिमश्लोक। यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह इस बातका प्रमाण है कि जैन विचारधारा व्यक्ति नहीं, किन्तु गुणको प्राधान्य देती है। इस स्तोत्रमें परमात्मा, अन्तरात्मा तथा बाह्यात्माका स्वरूप स्पष्टरूपसे बताया गया है। यहाँ बताये अर्थको देखते हुए ऐसा लगता है कि अन्यग्रन्थके टीकाकारों के बाह्यात्माकापदार्थ अनुमान पर आधारित है। यह, सरल जानकर

इस स्तोत्रकी पठन पाठनमें उपेक्षाकर परिणाम है ऐसा सार
परिलक्षित होता है। तथा इस स्तोत्रकी कीर्तिकलाश्रया
अवधारकनक वाद यह प्रगट ही श्रात होता है कि सम्प्रदाय दृष्टिसे
सरल छातेहुए भी यह स्तोत्र वर्णसे अत्यन्त सारगर्भित है। इसलिये
कीर्तिकलाश्रयासे इसस्तोत्रका महत्त्व प्रकाशमें आया है-गया करना
कोई असुविधि नहीं। मैं अपनी योग्यताकी मयादामासे परका
हूँ। फिरभी इतनातो अवश्य ही समझता हूँ तथा कह सकता हूँ
कि कीर्तिकलाश्रया सरल, सारगर्भित, उपयोगी एवं मञ्जसनीय है
इतना ही नहीं किन्तु इससे निरकारसे अपेक्षित तथा एक अत्यन्त
आवश्यक व्याख्याकी पूर्ति हुई है।

कीर्तिकलासहित अन्य प्रकाशनाक वैसे ही इस प्रस्तुत
प्रकाशनमेंभी श्रोतोंके द्वितीय भाषापरिचये गए हैं। तथा स्पष्ट
रूपसे प्रत्येक पदार्थका प्रत्यक्ष ज्ञान हो और इस प्रकार वाक्योंके
सम्बन्ध शब्दोंके अर्थज्ञानमेंभी उपयोगी हो इस दृष्टिसे प्रत्येक पदार्थ
अर्थ तथा समासनामके पदोंका प्रत्यक्ष सङ्गठित वर्णनीय गये हैं,
जिससे विद्यार्थियों एवं छात्रार्थक जिज्ञासुभोक्तव्यो हों प्रकाशनकी
व्यवस्थामें इच्छा हुई है। जिससे बिना किसी सहायताके ही
स्वोक्तक अधः समझा तथा समझाया जा सकता है। यह बात पुस्तक
दमनेक बाद स्वयं ही प्रगट हो जाती है।

इस पुस्तककी इन सब विशेषताओंको देखते हुए इसके
प्रकाशनका इच्छा सुअक्सर मास होनेसे मेरे लिये उत्तमप्रकार तथा

एक शुभकार्यमें भागलेनेके आनन्दका अनुभव होना सकारण ही है। पूर्वमेंभी कीर्तिकला सहित 'द्वाविंशिकाद्वयी' तथा कीर्तिकला संस्कृत व्याख्यासहित 'वीतरागस्तव' के प्रकाशनका अमूल्य सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ था। वाचकाके द्वारा उसका आदर देखकर इस प्रकाशनके कार्यभारको द्विगुण उत्साहसे वहन करनेमें मैं समर्थ हुआ हूँ, जो स्वामयिक ही है।

यहां पर, जिनकी अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय आर्थिक सहायताके बल पर इस 'स्तोत्रत्रयी' का प्रकाशन सुचारुरूपसे सम्भव हो सका, उन श्रीखीमचन्दभाई जेसगभाईका आभार सहित उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं समझा जायगा। श्रीखीमचन्द भाई एक धार्मिक प्रकृति, शुभकार्योंमें उत्साहसे भाग लेनेवाले, सफल व्यापारी तथा अत्यन्त मिलनसार हैं। आपका उपरोक्त गुणोंके कारण समाजमें एक विशिष्टस्थान है, जो स्पृहणीय माना जाता है। आप तीसवर्षकी अल्प अवस्थामें ही एक साहसिक व्यापारी होनेके कारण व्यापारके उद्देशसे आप्रीका गये थे। तथा सद्गुण धार्मिक प्रकृति होनेके कारण आपने सुणावमें मन्दिर तथा उपाश्रयका निर्माणकर प्रचुर पुण्य एवं सुयशका लाभ किया है। आप शुभनाम 'नगीनदास' तथा कान्तिलाल इन दो सुपुत्रों तथा अन्य परिवारोंसे भरे पूरे हैं। तथा आपके ही चाचा श्रीमणिलाल चुनीलाल भाई हैं। जो स्वभावतः ही धार्मिक उत्साहवाले, सज्जन तथा आकर्षक व्यक्तित्व सम्पन्न हैं। इस प्रकार इन दोनों भाईयोका सम्पूर्ण परिवार ही धार्मिक प्रवृत्तियोंके

अनुरागी तथा उनमें सोत्साह भागलेनेवाला है। इस प्रकाशनकी आर्थिक सहायता देकर पूर्ण करनेकेलिये मैं इनकेलिये सहर्ष अपनी हस्तश्रुता प्रगट करता हूँ।

यहाँ बापूजीसे सानुनय निवेदन है कि यद्यपि मूक संशोधन आदिमें पूरी सत्यबानी रखी गयी है फिरभी इष्टि तथा मुद्रण दोषों से अशुद्धि रह गयी है—उसकेलिये सहानुमति पूर्वक क्षमा करेंगे। तथा साथमें दिये गये शुद्धिपत्रका यथास्वर उपयोग करेंगे।

अन्तमें इस आशा तथा विश्वासक साथ कि बापूक तथा अध्यापक इस स्तोत्रत्रयीके अध्ययन तथा अध्यापनके द्वारा बड़ा समस्त अवश्य ही अधिकधिक समान्ति होंगे, तथा इस प्रकार भीषीतरण जिनेश्वरकी भक्तिसे अपनी आत्माको पवित्र करेंगे इति।

मन्दीय —

माईलास, अम्मासास,

पेटल्मदास

॥ शुद्धिपत्रम् ॥

सकलार्हस्तोत्र कीर्तिकलासस्कृत व्याख्यासहितम् ।

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	७	भूमि	भूमी
३	११	भुवर्मनु	भुवोमनु
३	१७	भूस	भूस्
४	०	भुवस	भुवस्
४	११	स्तौति	स्तौति
९	६	लोत्पत्य	लोत्पत्य
१२	१८	तिष्णी	तीक्ष्णी
१४	५	द्यति	द्युति.
१५	१	(मद्रमित्यनन्तरम्—श्रियमितिपाठे तु अन्तरङ्गारिमथनसम्पद-मित्यर्थ, तस्य एव प्रकृतत्वादि बोध्यमि—त्यधिको बोध्यः ।)	
१५	३	शिवपोष	शिवश्रीपोष
१६	१५	व	व
२०	१६	मूलति	मूल्यति
२१	११	निवत्तन	निवर्त्तन
२२	१	द्रुप	द्रूप
		महादेवस्तोत्र कीर्तिकलासस्कृतव्याख्यासहितम् ।	
८	१४	नार्था	नर्था
८	१५	नन्तर	नन्तर
२७	१	त्रय	ध्रय
२८	१५	पेद्येत	पद्येत
२९	१	क्रिया	क्रिया
३३	७	चिह्न	चिह्न
३४	१६	एवैक	एवैक

३५	४	एषक	एषक
४२	१	पुष्पे	पुष्पे
४४	१	विह	विह
४४	१३	त्यसः	त्यसः
४६	१	एकमूर्ति	एकमूर्ति
		सकलार्थस्त्वान्न कीर्तिकलादिन्दीप्तापानुवादसहितम्	
६	१९	दण	दण
५	५	स्वामिनी	स्वामिनी
५	१	ही	ही
२२		अरिष	अरिष

छुद्रिपत्रम्

महादेवस्तोत्रं कीर्तिकलादिन्दीप्तापानुवादसहितम् ।

७	५	अष्टाष्टम्	अष्टाष्टम्
१	१	वा	के
१	१०	ह	ह
६	१	वाले	वाले
११	३	मराय	मराय
१९	१	अय	अय
२५	७	प्राविध	प्राविधो
४	११	एष	एष

॥ अहम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ सकलाऽहस्तोत्रम् ॥

— * —

✓ सकलाऽहस्तप्रतिष्ठानमधिष्ठान शिवश्रिय ।

भुर्भुव स्वस्वयीशानमार्हन्त्य प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

नामाऽऽकृतिद्रव्यभावै पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।

क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हत समुपास्महे ॥ २ ॥

आदिम पृथिवीनाथमादिम निष्परिग्रहम् ।

आदिम तीर्थनाथ च ऋषभस्वामिन स्तुमः ॥ ३ ॥

अर्हन्तमजित विश्वकमलाकरभास्करम् ।

अग्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगत स्तुवे ॥ ४ ॥

विश्वभयजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ता ।

देशनाममये वाच श्रीसम्भवजगत्पते ॥ ५ ॥

अनेकान्तमताऽम्भोषिसमुल्लासनचन्द्रमा ।

दद्यादमन्दमानन्द भगवानभिनन्दन ॥ ६ ॥

द्युसत्किरीटगणाग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनिखावलि ।

भगवान् सुमनिस्वामी तनोत्वभिमतानि व ॥ ७ ॥

पद्ममममोर्वेहमास पुष्पन्तु व० प्रियम् ।

अन्तरङ्गारिमयने क्षेत्राऽऽष्टोपात्रिषाऽष्ट्या ॥ ८ ॥

भीक्षुपात्रजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताहमये ।

नमश्चतुर्वर्णसङ्गरागनाऽऽग्नेयमास्वते ॥ ९ ॥

अन्द्रमममोअन्द्रमरीचिमिचयोऽवका ।

मूर्तिर्मूर्तस्तित्त्यन्तनिर्मितेष प्रियेऽस्तु व० ॥ १० ॥

करामसकञ्चिस्त्वं कञ्चम् केचनप्रिया ।

अचित्त्यमाहास्यनिधि सुविशिष्टोवमेऽस्तु व० ॥ ११ ॥

सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्रेवनवाऽम्बुद ।

स्याद्वाऽऽमृतनिःस्वन्दी क्षीतस पाशु यो विन ॥ १२ ॥

मवरोगार्जन्तूनामग्नद्वारदर्शन ।

नि भेम्समीरमणः भेयांस भेयसेऽस्तु व० ॥ १३ ॥

विन्वोपकारकीमूर्ततीक्ष्णकर्मनिर्मिति ।

सुरासुरनरैः पूज्यो वासुपूज्य पुनस्तु व० ॥ १४ ॥

विमलम्बामिगो वाच कतकश्रोतसोदरा ।

अयन्ति विभगचेतोयलनैमम्यहेतव ॥ १५ ॥

स्वयम्भूरमणस्पृधिऋणारसवारिणा ।

अनन्तमिद्रमन्ता व० प्रयच्छतु सुखप्रियम् ॥ १६ ॥

कल्पद्रममपमायप्रिष्टपामो दारीरिणाम् ।

चतुपापर्मदेष्टारं यमनाचतुषाम्महे ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मळीकृतदिङ्मुख ।

मृगलक्ष्मा तम शान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु व. ॥ १८ ॥

श्रीकुन्थुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः ।

सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु व. श्रिये ॥ १९ ॥

अरनाथ स भगवाश्चतुर्थाऽरनभोरवि ।

चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलास वितनोतु वः ॥ २० ॥

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम् ।

कमद्रन्मूलने हस्तिमल्ल मल्लिमभिष्टुम ॥ २१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।

मुनिसुव्रतनाथस्य देवनावचन स्तुमः ॥ २२ ॥

लुठन्तो नमता मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।

वारिल्लवा इव नमे पान्तु पादनखाशवः ॥ २३ ॥

यदुवगसमुद्रेन्दु कर्मकक्षहुताशन ।

अरिष्टनेभिर्भगवान् भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

✓ कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचित कर्म कुर्वति ।

प्रमुस्तुल्यमनोवृत्ति पार्श्वनाथ श्रियेऽस्तु व. ॥ २५ ॥

✓ कृनाऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः ।

ईषद्वाप्यार्द्रयोर्मद श्रीवीरजिननेत्रयो ॥ २६ ॥

इति सकलाऽर्हस्तोत्रम् ।

श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्युतश्रिया ।

महानन्दसरोराजमराळायाऽहते नमः ॥ १ ॥

सर्वेषां चेषसामाग्रमादिभे परमेष्ठिनाम् ।

देवाऽऽविदेव सर्वेषां श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

✓ कल्याणपादपाऽऽराम मुनगद्गाहिमाचलम् ।

विश्वाऽम्बोबरवि चैव बन्द श्रीश्रातनन्दनम् ॥ ३ ॥

पान्दु व श्रीमहावीरम्बामिनो वेष्टनागिर ।

मन्यानामान्तरमलप्रशालनजलोत्समा ॥ ४ ॥

इति कलिकावतस्तु श्रीदेवकन्दार्पणविरचितं

श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ।



॥ अहम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सरिसङ्गुरुभ्यो नमः

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ श्रीमहादेवस्तोत्रम् ॥



प्रशान्त दर्शन यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।

मङ्गल्यं च प्रगस्त च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरता गतः ।

रागद्वेषविनिर्मुक्त वन्देऽहं तं महेश्वरम् ॥ २ ॥

महाज्ञान भवेद्यम्य लोकालोकप्रकाशकम् ।

महादया-दम-ध्यान महादेव स उच्यते ॥ ३ ॥

महान्तस्तस्करा ये तु तिष्ठन्त स्वगरीरके ।

निर्जिता येन देवेन महादेव. स उच्यते ॥ ४ ॥

रागद्वेषौ महामलौ दुर्जयौ येन निर्जितौ ।

महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नामधारका ॥ ५ ॥

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकाना मते मत ।

शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

शक्तितो व्यक्तितश्चैव विज्ञानालक्षणात्तथा ।

मोहजाल हतं येन महादेव स उच्यते ॥ ७ ॥

त्मेऽस्तु ते महादेव ! महामयविवर्धित ! ।

महालोमविनिमुक्त ! महागुणसमन्वित ! ॥ ८ ॥

महास्रगो महाक्षेपो महामोहस्तम्भैव च ।

क्यायक हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥

महाकामो ब्रितो येन महामयविवर्धित ।

महावतोपदेशी च महादेव स उच्यते ॥ १० ॥

महाक्षेपो महामनो महामाया महामय ।

महास्त्रेभ्यो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥

महानन्ददये यस्य महाज्ञानी महस्तपा ।

महामोगी महामौनी महादेव स उच्यते ॥ १२ ॥

महावीर्यं महाभैरवं महाधीर्धर्मं महागुण ।

महामङ्गलमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥

स्वयम्भूते ब्रह्मा शानं लोकस्त्र्येकमक्षरम् ।

अनन्तवीर्यनाशि च स्वयम्भूः सोऽमिषीकते ॥ १४ ॥

शिवो यस्माज्जिन मोक्षः सारथ्यं प्रकीर्तित ।

क्यायत्सर्गं च पर्यङ्गी सीतसावित्रिवर्धितः ॥ १५ ॥

साक्षरोऽपि घनाक्षरी मूर्तोऽमृतस्तम्भैव च ।

परमात्मा च वाक्सात्मा सोऽन्तरात्मा सधैव च ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानयोगेन परमात्माऽयमध्यय ।

परा शान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

- ✓ परमात्मा सिद्धिप्राप्तौ चाद्यात्मा तु भवान्तरे ।
 अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येष त्रिविध शिव ॥ १८ ॥
- सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।
 पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥
- एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।
 त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनात् ॥ २० ॥
- एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।
 परस्पर विभिन्नानामेकमूर्तिं कथं भवेत् ? ॥ २१ ॥
- कार्यं विष्णु क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः ।
 कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्तिं कथं भवेत् ? ॥ २२ ॥
- प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।
 अमिजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिं कथं भवेत् ? ॥ २३ ॥
- वसुदेवसुतो विष्णुर्माता च देवकी स्मृता ।
 रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिं कथं भवेत् ? ॥ २४ ॥
- पेढालस्य सुतो रुद्रो माता च सत्यकी स्मृता ।
 मूलं च जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिं कथं भवेत् ? ॥ २५ ॥
- रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।
 कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिं कथं भवेत् ? ॥ २६ ॥
- अक्षसूत्री भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः शूलधारकः ।
 तृतीयः शङ्खचक्राङ्क एकमूर्तिं कथं भवेत् ? ॥ २७ ॥

चतुर्भुजो भवेद्ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महाधर ।
 चतुर्भुजा भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ॥ २८ ॥
 मधुरामां वातो ब्रह्मा, राजगृहे महधर ।
 धारातन्वाममूर्तिविष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ॥ २९ ॥
 हंसमानो भवेद्ब्रह्मा वृषयान्नो महाधर ।
 तार्क्ष्यधनो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ॥ ३० ॥
 पद्महस्ता भवेद्ब्रह्मा शूकपाणि महेश्वर ।
 चन्द्रपाणिर्मयोद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ॥ ३१ ॥
 कृते आतो भवेद्ब्रह्मा त्रेतायां च महेश्वर ।
 विष्णुश्च द्वापरे आत एकमूर्तिः कथं भवेत् ॥ ३२ ॥
 ज्ञानं विष्णु सदा प्रोक्तं ब्रह्मा चारित्रमुच्यते ।
 सम्बन्धं तु शिव प्रोक्तमहंमूर्तिस्त्रयात्मिकः ॥ ३३ ॥
 क्षितिजलपक्कटुतामनयज्मानाऽऽकृतसोमसूर्यास्त्रिया ।
 इत्येतेऽष्टौ मगमति गीता वीतरागे सुमुखा ॥ ३४ ॥
 क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्बलं मा च प्रसक्तता ।
 निःसक्तता भवेद्वायुर्बुधोऽसौ योग उच्यते ॥ ३५ ॥
 यज्मानो भवेद्वायुः स पावनदयादिभिः ।
 अलेपकन्वादाकाशसङ्काश सोऽग्निभीयते ॥ ३६ ॥
 सौम्यमूर्तिरुनिश्चन्द्रो वीतरागः समीक्ष्यते ।
 ज्ञानप्रकाशकस्थेन स अद्वित्योऽग्निभीयते ॥ ३७ ॥

- ✓ पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।
 अर्हस्तस्य नमस्कारः कर्त्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥
- अकारेण भवेद्विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
 हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्याऽन्ते परमपदम् ॥ ३९ ॥
- अकार आदिधर्मस्य मोक्षम्य च प्रदेशकः
 स्वरूपपरमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥
- रूपिद्रव्यस्वरूप वा दृष्टा ज्ञानेन चक्षुषा ।
 दृष्टं लौकमलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥
- हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषदा ।
 हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥
- ✓ सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्णं प्रातिहार्याऽष्टकेन च ।
 ज्ञात्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥
- ✓ भवबीजाऽङ्कुरजनना रागादयः क्षयमुपगता यस्य ।
 ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति महादेवस्तोत्रं समाप्तम् ।



अध्यात्मसार

कीर्तिफलाभ्यास्यसहितः (यन्त्रसहः) ।

(सम्पूर्ण-भागों में) ।

॥ अहम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सुरसिद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ सकलाऽहत्स्तोत्रम् ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्राविजयगाणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषितम् ।

✓सकलाऽहणाग्रभूमिं सकलाऽहगुणाकरान् ।

सकलाऽहध्येयरूपान् नमामि सकलाऽहतः ॥ १ ॥

सकलाऽहद्भक्तिवशः पन्यासः कीर्तिचन्द्रोऽहम् ।

सकलाऽहत्स्तोत्रस्य प्रकरोमि कीर्तिकलाऽभिधां व्याख्याम् ॥

अथ कलिकालसर्वज्ञो भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यस्त्रिषष्टिशलाका-
पुरुषचरित्र नाम महाप्रबन्ध चिकीर्षुर्विघ्नप्रशमनपूर्वकप्रारिप्सितपरि-
समाप्तिकामो मङ्गलमाचरन् कीर्तनीयाश्चतुर्विंशतिमहत् एव सकल-
मङ्गलाऽविष्टानतया सरन्नादौ गुणा पूजास्थानमित्याहन्त्य प्रणिदधान
आह—

सकलाऽहत्प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।

भूर्भुवःस्वस्त्रयीशानमार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

सकलेति । सकलार्थप्रतिष्ठानम् = सकलानां भूतवर्णनं
 भविष्यतां नत्वेकस्य द्वयोर्बहुनामेव वाऽर्थात्, अर्हति सुरासु-
 नरेन्द्रादिभिरां पूजामित्यर्थः, तस्य च तस्य च तस्य चेति तेषामुपपत्ति-
 र्दीर्घाद्वारणामर्हत्परवाच्यत्वेन प्रसिद्धानाम्, यदुक्तम् — 'यस्मादर्थ-
 पूजामर्हत्तेषोत्तमोत्तमो लोके । देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यस्त-
 नामि'ति । "एवमादिननाद्वयोहरणद्वयस्याऽभावाच्चाऽर्थः पृष्ठे
 दरादित्वादि"ति कस्यचिद्व्याख्यानं शब्दस्युत्पादनोपायान्तरपरत्वं
 कस्यचित्तेभ्यः । शब्दवद्धानां व्युत्पत्तिनिष्पादनादिति बोध्यम्
 औचित्यादेव सन्वयस्युत्पादने यादृच्छिकव्युत्पत्तेरमोक्षत्वमिति व्युत्पत्ति-
 त्वः । तेषां सकलार्थं प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठासाधनम्, पूजाहेतुरित्यर्थः ।
 अर्थान्यादेव अर्थः, अन्यथा तु क. प्रतिविशेषः स्यादन्येभ्यस्तस्य ।
 यद्वा सकल अर्थन्तः प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठित्येति तत् आशय इत्यर्थः ।
 अर्थस्य अर्थस्तु न स्यादर्थं कस्यचन स्यात् । एतेनाऽऽर्थन्यप्रमिषाने
 शीघ्रमुक्तम् । यद्वि सकलार्थां प्रतिष्ठासाधनं, सकल अर्थन्तो वा
 यदाशयः, तस्य सकलार्थमेवार्थां प्रमिषेयत्वादवश्यप्रमिषेयत्वम् ।
 यदुक्तम् — 'प्रमिषेयमाचारवत् गुणानामि'ति । येन शब्दस्याऽपि
 प्रमिषेयत्वं तस्य स्वस्य तदिति किमु शक्यमिति चेति मातः । ननु
 मन्त्रस्तस्यार्थप्रतिष्ठानम्, न च तावता स्वस्य कोऽपि स्वयः,
 नवा प्रमोक्षमनुदित्य मन्योऽपि मन्त्रत इति चेत्ताऽऽह—शिवभियां
 शिवा मिरुपद्रवत्वाभिरपामत्वाच्छुभगतिस्तद्वत्त्वाच्छुभप्रदत्वाच्च कर्म
 । अरण्येऽप्यराध्युमा या श्रीर्लक्ष्मीर्गानाऽतिष्ठयादिसमृद्धिसंस्थाः, शिवस्यै-
 वान्तेन कस्याप्ययत्नामोक्षस्य या श्रीरन्तश्चयत्वाऽऽलम्ब्यन्त्यादि

समृद्धिस्तस्या वा, सर्वकल्याणमम्पद इत्यर्थः । “श्व.श्रेयस शिव भद्रं
 कल्याण मङ्गल शुभमि”ति, “जोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी श्रीरिव
 दृश्यत” इति चाऽमरः । अधिष्ठानम्=स्वस्मिन् याऽधिष्ठितरधिकं
 विशेषेणेतरविलक्षणतया स्थितिस्तत्साधनम् । अधितिष्ठत्यस्मिन्निति कारणे
 कार्योपचारादधिष्ठानसाधनेऽधिष्ठानोक्तिः, आश्रय इत्यर्थः । /अर्हत्स्वेव
 तादृशश्रीस्थितिः, तत्र हेतुश्चाऽऽर्हन्त्यमित्युपचारादार्हन्त्यमेव तदधिष्ठान-
 मिति हृदयम् । अर्हन्त्यादेव तादृशश्रीलाभो नाऽन्यथा, कथमन्यथा-
 र्हत्स्वेव तादृशश्री नाऽन्यत्रेति तादृशश्रीलाभ एवाऽसाधारणं प्रयोजन-
 मित्यतस्तदवश्यं प्रणिधेयं प्रेक्षावतेति भावः । तदेव गुणानुक्त्वा
 महिमानमाह—भूर्भुवःस्वस्त्रयीशानम्=भूर्नागलोक, पातालमित्यर्थः ।
 भुवर्मनुष्यलोक स्व. स्वर्ग तेषां त्रयी तस्या ईशानमीशित्वाऽनुगुणमहिम,
 धर्मधर्मिणोरमेदाद्धर्मी चेदीशानो धर्मोऽपीत्येवमुक्तिरिति बोध्यम् ।
 ईशानत्वप्रयोजकत्वात्तादर्थ्यात्ताच्छब्दश्च । अर्हन् हि भूर्भुवः स्वस्त्र-
 यीशान, यदुक्तम्—“मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति सुरासुरनरेश्वरा”
 इति, “छत्रत्रयी त्रिभुवनप्रभुत्वप्रौढिशसिनी”ति च । न हि कोऽप्य-
 नीशानमानमति, य च सर्वे नमस्यन्ति स सर्वेषामीशानः, अत एव
 छत्रत्रयाद्यतिशय इति ध्येयम् । “भूस, भुवसि”ति यथाक्रम
 नागलोकमनुष्यलोकवाचकाविति सिद्धहेमवृहद्वृत्तिः । “स्वरव्यय स्वर्ग-
 नाकत्रिदिवत्रिदशाल्या” इति चाऽमरः । महान् महिमाऽऽर्हन्त्यस्य,
 यदुत तत्प्रभावात्त्रिभुवनेगानत्वमिति भावः । यदपि समाधानम्—
 “अप्राद्यन्तयोर्मूस स्वश्शब्दयोः पातालनाकिलोकवाचकयोः सन्निध्यात्त-
 दन्तरालवर्तिभुवश्शब्दस्य मर्त्यलोकवाचकत्वमनन्यगतिकत्वेन नाऽयुक्त-

मिति । तत्राऽनन्यगतिरुत्वेनेत्यसमस्तसम् । नहि गतिर्नास्तीति
 यादृच्छिकोऽर्थः कल्प्यते । अत्र च मुक्तुं शब्दस्य मर्त्यलोकात्
 उक्त्याहसपासपन्थ एव गतिरिति कुतोऽनन्यगतिरुत्तमिति । नित्ये
 माह-आहन्त्यम्=अर्हतो माव कर्म चाऽऽहन्त्यम् । “अर्हस्तोत्र
 च” (सि हे ७१-६२) इति दूयति न्नादेशो च सिध्यति । ननु
 बीज्याऽर्हच्छब्दमवतिष्ठतिर्त्यर्थः । सहबाधनिष्ठयात्रि केवलाऽनादिर्ह्ये
 याक्त् । अत्र, प्रविद्वन्माहे=कर्मवाङ्मनोमिच्छन्मन्त्रं साधयाम्, न
 हि सकलेहसिद्धिः स्यादिति हृदयम् । तद्धि माकल्पत्वात्मनिषेवने
 नतूपासनादिकर्मार्हतीति तत्प्रविद्वन्माहे इति भावः । अस्मिस्तोत्रे सर्वे
 शुद्धुष्टन्द ॥ १ ॥

तदेकमुक्त्यकरणेन धर्मं स्तुत्वा धर्मिणं स्तौति—

नामाऽऽहुतिरुच्यमावैः पुनतस्तिजगज्जनम् ।

क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्माहेतः समुपासहे ॥ २ ॥

नामेति । सर्वस्मिन्=सर्वत्रैव, अथकत्रैव वा, क्षेत्रे=
 भरस्मृतिनिदेशात् क्षेत्रपदवाच्ये, काले=अथकालेऽप्यत्रात्मके द्वावधारे
 काले, वा समुच्ये तेन सर्वस्मिन्नेति क्षेत्रकालयोर्द्वयोर्विशेषणम्,
 सर्वस्मिन् क्षेत्रे सर्वस्मिन् काले चेत्पर्यं । तिजगज्जनम्=प्रवासा
 नस्वेकस्य द्वयोरेव वा जगतां भुवमानां जनं प्रथमम्, ‘क्षेत्रे अथ
 प्रथमम्’ इति हेम । अत्र जनमिति सामान्योक्त्या देवाऽन्तराष्ट्रकेषु
 पक्षपाताऽभावात् सूच्यते । नामाऽऽहुतिरुच्यमावैः=नाम नामनिक्षेपविश्व
 भरस्मृतिशीरतिः, आहुति स्थापनानिष्ठपवित्रयोर्ह्यतिमात्रिः, इत्ये

द्रव्यनिक्षेपविषयः, यस्य जीवस्याऽर्हत्पर्यायो भावी स भविष्यदर्हज्जीव ।
 भावो भावनिक्षेपविषयोऽर्हत्पर्यायापन्नः समवसरणाद्यवस्थितोऽर्हन्,
 तैरेतैश्चतुर्भिः प्रकारैः पुनतः=शुचीकुर्वत, नामस्मरणादिना नाम्ना
 कृत्वा, आकृतेर्वन्दनपूजनादिनाऽऽकृत्या कृत्वा, द्रव्यस्य पितृत्वपुत्रत्व-
 सख्यदास्योपचारपरिचरणादिना द्रव्येण कृत्वा, भावस्य देशनाश्रवणा-
 ऽतिशयादिना भावेन कृत्वा चाऽन्तर्वहिर्मलराहित्यं जायते जनस्येति तैः
 प्रकारैर्हन् त्रिजगज्जनं पुनातीत्युच्यते इति बोध्यम् । एतेन तेषा-
 मवश्यसमुपास्यत्वं सूच्यते । येन हि स्वस्य पवित्रीकरणं सोऽवश्यं
 सेवनीयो भवति मतिमताम्, अतस्तादृशान्, अर्हतः=अर्हत्पदवाच्या-
 नृषभादितीर्थकृतः, समुपास्महे=सम्यग् भक्तिश्रद्धादिनिर्भरतया पर्युपा-
 स्महे, यथा पवित्रीकृता स्याम इति हृदयम् । त्रिजगत्पवित्रीकरणलक्षणं
 वैलक्षण्यमर्हतोऽसाधारणमिति तात्पर्यम् । यद्यपि सर्वत्र सर्वदा च न
 भावाऽर्हतो विद्यमानता, तथापि नाम्नाऽऽकृत्या द्रव्येण च पवित्रीकार-
 क्रियासम्पत्तेः क्वापि भावेन च तत्सम्पत्तेस्तैश्चतुर्भिः पवित्रीकरणस्य
 सामान्यत उक्तिर्युज्यत एव । नहि सर्वदा सर्वत्र च तच्चतुष्टये तात्पर्य-
 मसम्भवादिति ध्येयम् ॥ २ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेण सामान्यतोऽर्हतं स्तुत्वा तद्विशेषान्
 यथाक्रमं स्तुवन्नादौ प्रथममृषभनाथं स्तौति—

आदिमं पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।

आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥

आदिममिति । आदिमम्=आद्यौ गव आदिम
 तारुणम्, पृथिवीनाथम्=पृथिव्या नाथ ईश इति तम्, युगप्रौ
 पृथिव्यां न कवेऽपि एवाऽऽसीत् । कल्पमानातोकेऽप्यवस्थामां न
 तामां तन्मियमनायेन्द्रादिभि र्धूपमनायस्य राज्याभिषेकक इत्यादि
 वर्णिसमिति बोध्यम् । ननु पृथिवीनाथो न स्तुतिपात्रं सत्पूनामैरि-
 कम्पनाऽमात्रदानुष्मिककामनायास्ततोऽसिद्धेभ्येत्यत आह—आदिमम्
 प्रथमम्, निप्यरिग्रहम्=परिग्रहो धाराज्जारादिस्वामित्वा, सत्पूनामैरि-
 रहितो निप्यरिग्रहो निर्मन्त्रकम्, युगप्रौ स एव सर्वप्रथमं परिग्रहि-
 वान्तिस्थागम इति बाध्यम् । ननु ग्रहो निप्यरिग्रहा इति न तत्त्व
 कत्वाऽपि निप्यरिग्रहेण स्तुत्यताऽऽयाति समानत्वादित्यत आह—
 आदिमं तीर्थनाथम्=तीर्थं सारुसाध्वीभ्यःकामाविक्रयं समुदाह-
 रक सङ्गस्तस्य गम्य इव विविनिषेवीपदेकत्वात्तापस्तीर्थंहर इत्यर्थः ।
 कोकप्रन्तिकामरैस्तीर्थं प्रवर्त्तयेति प्रार्थित प्रथमनाथ प्रवर्त्तितवान् । केक
 मासघनन्तरं च समवसरणे तेन कृत्या देवतया प्रसुद्धानां गृहि
 म्हात्मनाऽमुक्तानां प्रमोर्बिहारकक्षे चतुर्कर्म सङ्गः प्रावृत्तिस्वान्त
 च । समुच्चये । प्रथममित्येकमोक्त्याऽपि सर्वत्र तदन्वयेनेष्टं सिद्धयं
 भवति, तथापि सर्वत्र प्राथम्यव्यतिरेकस्यैकस्यैवनायाऽस्तुतिमि-
 बाध्यम् । स क इत्यपेक्षया माह—अश्वमस्यामिनम्=अश्वमस्तुत्यान्त
 प्रथमस्तीर्थं इत्यर्थः, अश्विन् गमस्ये अश्वना स्वमे प्रथममुपमवर्त्तयाम-
 सम्यक्तत्वाच्च सितुम्भगुणमैषि ह्यामिस्त्व., स चाऽयौ स्वामिबद्धाह-
 प्रवर्त्तनानिनोपदेसादिना च प.कत्वात्तापमी, तम् स्तुतुः=कीर्ति-
 याम् । अर्पितं शोकविण्मणगुणविधिष्टधमुत्सेनेवेति बोध्यम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमजितजिन स्तुवन्नाह—

अर्हन्तमजितं विश्वकमलाकरभास्करम् ।

अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

अर्हन्तमिति । विश्वकमलाकरभास्करम्=विश्वं जगत् ।

तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति जगज्जीवसमुदयः कमलानां स्वनामख्यातानां पुष्पविशेषाणाम्=पङ्कजानामाकर खनिरिव, तस्य प्रबोधकत्वात्तत्सम्बन्धी भास्करः सूर्य इव भास्कर इति गौणी लक्षणा, त तादृशम् । यथा हि सूर्य स्वकिरणैः कमलानि प्रबोधयति=विकासयति, तथाऽयं जनान् देशनावाग्भिः प्रबोधयति=प्रबोधं ददातीति क्रियासाम्यादुपमा । सा च कमलप्रबोधोऽन्यो जगत्प्रबोधश्चाऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसायरूपाऽतिशयोक्त्यनुप्राणिता । एतेन तस्य तादृशी देशनावाग्यया विश्वं प्रबोध्यत इति वचनाऽतिशय सूच्यते । “स्यादाकरः खनिः खनिरि”ति हैमः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतम्=अम्लानोऽमल, अतिस्वच्छ इत्यर्थः, तादृशो यः केवल तदारख्यं क्षायिक ज्ञानमादर्शो दर्पण इव, तत्र सङ्क्रान्तं विषयतया प्रतिबिम्बितं जगत्तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति जगत्पदार्थसार्थो यस्य तं तादृशम् । अत्राऽम्लानेति न केवलविशेषणमव्यभिचारात्सम्भवव्यभिचाराभ्यां विशेषणस्य सार्थक्यात् । आदर्शविशेषणं तु युज्यते, तादृशश्चैव स केवलज्ञानोपमानं भवितुमर्हति, तस्यैव च प्रतिबिम्बसङ्क्रान्तियोग्यताऽपि । किन्तु तथा सति तस्य केवलपदानन्तरमादर्शपदसमभिव्याहारेण प्रयोग उचितः । तथाप्येकत्रौचित्यादन्यत्र च तथा-

स्वाभावाद्भिन्नं केवलमिति लोच्यते यथा च समस्तस्य केवलमर्थेति
 पक्षस्यैव तद्विशेषणमिति बोध्यम् । अत्र कबलस्याऽऽदर्शितुम्यत्रा तत्र
 सगत्प्रतिबिम्बीमात्र उच्यते एव । किन्तु ज्ञाने प्रतिबिम्बीमात्राऽन्य
 आदर्शे चाऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यमेवाध्यवसाय इत्यतिसंयोज्यमर्थ-
 पत्ता । एवञ्च यस्य ज्ञाने जगत्सङ्घान्तं तस्य जगत्प्रबोधकत्वं नाऽस्म-
 क्तमिति जगत्प्रबोधे ज्ञानं जगत्सङ्घान्तोद्देश्यमात्रात्पदार्थहेतुकं कल्प्य-
 मिति । तथाऽतिशयोक्त्यनुमानितोपमेयविविधमिति सङ्ग्रहः । एतेन
 तस्य जगद्विषयकं ज्ञानमिति ज्ञानाऽतिशयो ध्वन्यते । “दर्पणे मुकुटा-
 ऽऽदर्शानि त्वम् । अत एव, अहन्तम्=सुरासुरनरेन्द्रादिवृत्तां
 पूजामर्हतीति तादृशम् तीर्थहरमित्यर्थः । यो हि निम्नप्रबोधक-
 केवलज्ञानवान् सोऽर्हन्नेव मङ्गीति भावः । यो हि सर्वेषामुपदेष्टक-
 त्वस्य सर्वं कृता पूजा युज्यते एवेति पूजातिशयो ध्वन्यते । ईश-
 सत्त्वैस्त्रिषुष्टेदुविश्रासामिष्टये विरोध्याकङ्क्षापुरणाद्य चाऽऽह—
 अजितम्=न जितो बलीकृतो रागादिभिर्बाधाऽऽन्तरातिभिरेति च
 इत्यन्वर्थाऽजितप्रमा द्वितीयस्तीर्थहरः अस्मिन् गर्भस्थे जननी एते
 मया न जितेति तदनुसारेण पित्रा कृताऽजिताऽभिस्त्वय, तम् । यो हि
 वैरजिस्ते तेनैव जिता इति यो भीतराग स एषोक्तविशेषणमर्थमिति
 नाऽन्य इति भावः । एतेनाऽप्याप्याऽप्यगमाऽतिशयो ध्वन्यते । स्तुते=
 स्तुतिविपरीकरोमि । अत्रैकवचनं पूर्वम् च बहुवचनमित्यसङ्कतिर्नो
 शङ्कनीया एकस्मिन्नेऽप्यस्मादा बहुवचनाऽनुशासनात् एकस्मिन्नेऽपि
 समापेयम् ॥ ४ ॥

अथ तृतीयं श्रीसम्भवजिन स्तुवन्नाह—

विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ताः ।

देशनासमये वाचःश्रीसम्भवजगत्पतेः ॥ ५ ॥

विधेति । देशनाममये=देशना दानशीलतपोभावभेदाच्चतुर्विध-
धर्मोपदेश, यदुक्तम्—‘दानशीलतपोभावभेदाद्धर्मं चतुर्विधम् । मन्ये
युगपदास्यातु चतुर्वक्तोऽभवद्भवानि”ति । केवलोत्पत्यनन्तर देवैर्विकृते
समवसरणे केवलिना जिनेश्वरेण दीयमानं प्रवचन देशनेति प्रसिद्धमिति
बोध्यम् । तस्या देशनाया य समय कालस्तस्मिन्, देशनासमयभवा
इत्यर्थः । यद्वा देशनाया य समय सङ्केत आगमादिरूपेण प्रवृत्तः
सम्प्रदायस्तस्मिन् वृत्तमाना श्रुतरूपा वाच, ताः=प्रसिद्धाः, बहु-
विषयत्वान्नानाविधाः श्रोत्रनुकूलभाषापरिणतिशीलत्वाच्च नानाप्रकाराः,
यदुक्तम्—“देवा दैवीं नरा नारीमसुरा आसुरीं तथा । तिर्यञ्चोऽपि
च तैरर्श्वीं मेनिरे भगवद्विरमि”ति । ततश्चाऽखिलवाग्विलक्षणत्वाद-
निर्वचनीया इत्यर्थः । ननु भवतु तास्तथा, तेनाऽस्माक को लाभ
इत्यतो विशेषणमाह—विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्याः=विश्वे
सर्वे ये भव्याः सेत्स्यन्तो जना, सेत्स्यन् भव्योऽन्योऽभव्य इति हि
सम्प्रदाय । विश्वे जगति ये भव्या जना इति वा, त आरामा उप-
वनानीव, वाक्सलिलसेचनादिना पोषादिमत्त्वसाधर्म्यात् । “आरामः
स्यादुपवनमि”त्यमरः । तेषा कुल्यातुल्या उद्यानसारिणीसन्निभा ।
यथा हि सारिणीसलिलसेकेनोपवनवृक्षलतादयो वर्धन्ते पुष्पफलादि-
समृद्धिमन्तश्च जायन्ते, तथा भगवद्वच प्रतिपाद्यधर्मसम्पर्कमेत्य भव्य-

अथ चतुरोत्तरं गुणवृद्धिमाप्नुवन्ति मुक्तयारिफलसम्पदाश्च मन्त्राः
 सुप्रसूक्तं 'विषमव्यवनाऽऽरामानुष्वातुष्वा' इति । "पले कुम्भः
 सारगिरि" इति हेम । श्रीसम्मवजगत्पतेः=जगतां स्तुपदमर्त्य
 पादवत्त्वात्पतिरिव जगत्पतिः, मिया सहजापनिश्वरूपया संहितया
 सम्भवत्वात्स्यस्तुतीमस्तीमद्भरा, अस्मिन् गर्भये राम्ये सर्वं यत्
 धन्यादिना समयवन्ति पितृभ्यां तदनुसारेण सम्भव इति सम्भवति
 य इत्यादिभ्यः, स याऽसौ जगत्पतिश्च तस्य । बाबा=उपदेश-
 बाप्य, मन्त्रकानीति वा, जयन्ति-सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । इत्य-
 वैष्टिष्ठयस्याऽन्यत्राऽऽगमात् । यदुक्तम्—"अयत्नधृष्यं किं ! दुर्लभं
 ते" इति माव । एतेन बागनिष्ठम प्रतिपादित, निष्कसाहर्ष-
 क्तरऽप्यतिष्ठता प्रविपासिता बोध्या । यद्वा स मन्त्रकानीति
 श्रुत्यस्या य कस्याप्यहेतुस्तस्य कस्म्यस्य इत्यस्याऽऽगमाऽतिष्ठ, जगतां
 पतिर्जगत्पूज्य एव मन्त्राणि पूजाऽनिष्ठया, केवलेत्यस्तस्य
 देवमेति देवनासमये इत्यनेन तत्पूर्वमाश्रितया ज्ञानाऽनिष्ठया प्रवि-
 दितोऽवगन्तव्यः ॥ ५ ॥

अथ चतुर्भगवन्निन्दनमिति स्तौति

अनेकान्तमताऽम्भोधिसमुच्छासनचन्द्रमाः ।

दद्यादमन्त्रमानन्दं भगवानमिनन्दनः ॥ ६ ॥

अनेकेति । अनेकान्तमताऽम्भोधिसमुच्छासनचन्द्रमाः=

अनेकान्ता अविकृता सत्त्वग्रीवत्वादयो विरुद्धा नित्यानित्यस्तस्य
 सत्त्वसामान्यविशेषाऽभिन्नध्याऽभिन्नाप्यस्वमेवाऽमेवाद्यो धर्मा अन्तः

पर्यवसिता एकस्मिन्नेव वस्तुनि=अपेक्षामेदेनाऽविरुद्धतया समावेशा-
 त्सिद्धान्तविषयीकृता यस्मिंस्तदनेकान्तम्, तच्च तन्मतं वादश्चाऽने-
 कान्तमतं स्याद्वादः, यदुक्तम्—“स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं
 न वाच्यं सदसत्तदेवे”ति “अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्व-
 मसृपपादमि”ति च । नित्यानित्यत्वादीनामेकस्मिन् समावेशप्रकारश्च
 मत्कृताऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकीर्तिकलातोऽवसेय । “मृताव-
 वसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यत” इति विश्वः । तदेव चाऽङ्गोपाङ्गा-
 दिति विस्तृततया नयमङ्गादिकलोलमालाऽऽकुलतया मिथ्यात्वमतिदुर-
 धिगमतया चाऽम्भोधि पारावार इव, तस्य समुल्लासने देशनावाक्च-
 न्द्रिकामि समुत्कर्षसमापादने चन्द्रमाश्चन्द्र इव । चन्द्रेण हि समुद्रस्यो-
 ल्लासनं प्रसिद्धम्, तद्वदनेनाऽप्यनेकान्तमतोल्लास इत्युपमा, सा च
 समुद्रोल्लासनमन्यदनेकान्तमतोल्लासनं चाऽन्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदरूपा-
 ऽतिशयोक्त्यनुप्राणिता । चन्द्ररूप इत्यर्थे तु पूर्वत्राऽम्भोधिरूप इत्यर्थो
 बोध्यः । ततश्च परम्परितरूपकाऽलङ्कारः । अत्र पक्षे च चन्द्रेण
 समुद्रस्योल्लासनमुचितमेवेति भावः । “हिमागुश्चन्द्रमाश्चन्द्र” इत्यमरः ।
 यद्वा-अनेके, अन्ता अगम्यते गम्यते प्रतीयत इत्यन्ता धर्मा विरुद्धा
 अविरुद्धाश्च, तेषां यन्मतमेकस्मिन्नेव वस्तुन्यपेक्षामेदेनाऽविरुद्धतया
 कथञ्चित्समावेशात्स्वीकारः, अनेकान्तवादः स्याद्वादाऽपरपर्याय इत्यपि
 व्याख्यानम् । शेषः पूर्ववत् । अत्र हेतुगर्भमपर विशेषणमाह—
 भगवान्=प्रशस्तो, भूमा च भगो ज्ञानादिरस्त्यस्येति स तादृशः ।
 यदुक्तम्—“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य तपसःश्रियः । ज्ञानवैराग्ययो-
 र्धैव पण्णा भग इतीरणे”ति । प्रशस्तभूमज्ञानादिमतोऽनेकान्तमतसमु-

स्वाप्तं नास्ति विदिति माव । विशेषमाह—अमिनन्दनः=स्वाप्त-
 मृतीयस्तीर्णहरः । अस्मिन् गमस्ये राज्ये सर्वतोऽप्यानन्दमावाप्तिपुम्मा
 तदनुसारेण कृत्वाऽमिनन्दनाऽमित्यर्थः, अमिनन्दमतीत्यमिनन्दन इत्य-
 न्वयनामत्यर्थः । नन्वावितादन । अमन्द=न मन्दमस्यममन्दमनस्सम्,
 स्वाभताऽस्तपदतयाऽनन्तमित्यर्थः । अन्वाहस्तत्त्वनिष्कृतादिना मन्द
 एवेति बोध्यम् । आनन्दम्=सुखम्, “स्वादानन्दपुरानन्द ईर्ष्य-
 सात्सुखानि चे”त्यमर । दद्यात्=यदास्तु प्रार्थनायां सप्तमी तत्र
 प्रार्थनैव क्षम्या न तु मेरणेति बोध्यम् । आनन्दप्रदानप्रार्थनेन च
 तस्याऽन्वर्धनामता च्यवते । अत्र शमाऽतिष्ठत्य प्रतिपादितः, इत्ये-
 ऽव्यभिचया व्याप्तिन्यायेनोपपन्नता वेदनीया । क्रियाऽऽनन्दप्रदत्वा-
 ऽन्यथाऽनुपपत्त्या तस्य नाप्याय इत्यप्याऽपगमाऽतिष्ठत्य, मगवत्सदेन
 तु सर्वे एवाऽतिष्ठत्या प्रतिपादिता बोध्या ॥ ६ ॥

अत्र पक्षमे सुमतिजिनं स्तुवन्माह—

धुसत्किरीटशणाग्रोचेजिताहृद्घिनस्त्रावलिः ।

मगवान् सुमतिस्वामी तनोस्वमिमवानि वा ॥ ७ ॥

धुसदिति । धुसत्किरीटशणाग्रोचेजिताहृद्घिनस्त्रावलिः=
 द्विनि सीदन्ति इति ते तादृशा धुसदा देवा सेन्द्रान्तेषां किरीटानि
 मुकुटान्येव कठिनत्वादीदृशीकरणयोर्मत्वात् शणा- घ्नानादिस्त्रिणी-
 कप्रसाभनकषेपकस्तेषामधैर्यमार्गैः कोटिमिरित्यर्थः । उचेजिता
 निरन्तरसंपादनात्मकमर्षणतस्तामवापात्रमेव तीक्ष्णीकृतास्त एव वीर्यप-
 त्तिशमसम्पत्तता मीताऽङ्गुष्ठोः पादयोर्नैवानामावलिः पशुर्धर्मस्य च

तादृशः । देवा हि भगवन्त भक्तिश्रद्धाऽतिशयादतिसान्निध्येन तथा
 प्रणमन्ति यथा तेषां किरीटाग्राणि भगवदङ्घ्रिमुखसङ्गतानि भवन्ति,
 ततश्च मुहुर्मुहुस्तथासंघट्टनेन नखाना तानव दीप्तिविशेषश्च जायते ।
 शाणाऽग्रे घर्षणेन शस्त्रादीनामुत्तेजन प्रसिद्धमेव । अत्र शस्त्राणामुत्ते-
 जनमन्यत्रखानां चाऽन्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसायमूलाऽतिश-
 योक्तिर्जीवित किरीटशाणेतिरूपकम् । “आदितेया दिविषद” इति,
 “पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि”ति चाऽमर । अत्र पूजाऽतिशयः प्रति-
 पादित । “मुकुट पुन । मौलि किरीट कोटीरमुष्णीषमि”ति,
 “शाणस्तु निकष कष” इति च हैम । देवकृतप्रणामसमर्थनाय विशेष-
 णान्तरमाह—भगवान्=सहजाद्यतिशयाद्यैश्वर्यादिसमन्वितः, सुमति-
 स्वामी=सुशोभना केवलारव्या मतिर्ज्ञान यस्येत्यन्वर्थनामा, अस्मिन्
 गर्भस्थे मातुः सुमतिभावात्पितृभ्या तदनुसारेण सुमतिरिति कृताऽभि-
 रूयश्च सुमतिनामा पञ्चमस्तीर्थकृत्स चाऽसौ स्वामिवत्पालकत्वात्स्वामी
 स, एतेन ज्ञानाऽतिशयः प्रतिपादितः । वः=स्तोतृणा वाचकाना च,
 अभिमतानि=अभीष्टानि, बहुवचनेन सर्वाऽभीष्टप्रदत्वं सूच्यते ।
 तनोतु=सम्पादयतु । यो ह्यभिमतप्रदः सोऽवश्य स्वयं निरपायः
 स्यादित्यपयाऽपगमाऽतिशयः सूचितः । वागतिशयश्च साहचर्याद्
 भगवत्पदमहिम्ना च सूचितोऽवगन्तव्यः । तदेवमजितस्वामिस्तुतौ ज्ञाना-
 ऽतिशयः सम्भवजिनस्तुतौ वागतिशयोऽभिनन्दनजिनस्तुतावपायाऽप-
 गमाऽतिशयः सुमतिस्वामिस्तुतौ च पूजातिशयः क्रमशः कण्ठरवेण प्रति-
 पादितोऽवगन्तव्यः ॥ ७ ॥

अथ यथा पञ्चमप्रमोः सुखमाह—

पञ्चमप्रमोर्देहमासः पुष्पन्तु यः प्रियम् ।

अन्तरङ्गारिमयने कोपाऽऽटोपादिवाऽऽत्माः ॥ ८ ॥

अथेति । पञ्चमप्रमोः=पञ्चम कर्मस्य प्रमेव मम यतिः=
अरुणधुतिर्यस्य ॥ वाहस इत्यन्वयनामसा सूच्यते । एवाऽस्मिन् गर्भस्थे
मासु पञ्चमप्रमोर्देहमासात्पितृभ्यां तदनुसारेण पञ्चममेति कृतमिह
पञ्चमोर्देहः, स चासौ प्रमयति ह्यन्तर्दिना अगतिरिति प्रमुरभि-
पत्तिः, तस्य, 'सु' प्रमास्तुषित्विह्यमाणाच्छब्दविधुक्तिरीष्टम्" इति
"मम, परिहृयोऽपि" इति चामर । अन्तरङ्गारिमयने=अन्तर-
ङ्गानीवेत्यन्तरङ्गा, अङ्गानि यथा क्षीरान्तःस्वस्वत्सिद्धिनिहितानि तत्र
मेऽन्तरात्मसम्बद्धत्ववत्सिद्धिनिहिता इत्यन्तरङ्गा अतिसिद्धित्वा आत्म-
सम्बद्धा अम्युद्यमनि भेदपरिष्विक्तत्वादरम्भं विषय इव कर्मकत्वादा-
इत्यस्तेषां ममनं मूढादुन्मूलनं विषये कोपाऽऽटोपादिव=कोप-
कोपस्तस्य य आटोप आबेष्टस्तस्माद्वेतास्तिवेति हेतूत्प्रेक्षा । उक्तं य
जिनानां कर्मादीनां समूहमन्मूलनं यथा— त्वयो माऽज्य कर्मकस्त-
मुन्मूलयति मूढत इति । कोपकोपाऽमर्षोप" इत्यमर ।
'आवशाऽऽटोपो संरम्भे' इति हेम । अरुणाः=पञ्चमप्रमत्वाद्भक्त-
रगच्छोणा योण कोकनदच्छवि । अम्यकरोगस्तत्परः" इत्यमरः ।
वैरिमयनप्रवृत्तानां कोपावेष्टान्मुलनेत्राधारुण्यं प्रमिदम् । अस्य तु
कोपाटोपात्ताऽऽत्मा किन्तु सामानिषीत्यर्थात्पितृभ्यामप्यस्तायादसूत्रेणा ।
श्रीयोगमाह—देहमासः=क्षीरपञ्चम, यः=स्तोत्रभाष्येण यः,

शिवम्=भद्रम्, पुष्पान्तु=परोत्कर्षमानयन्तु, पद्मप्रभप्रभोर्दर्शने तादृश्य-
स्तद्देहभासो मनोज्ञत्वादहृत्यनुरागविशेष जनयन्ति, अहर्द्वक्त्यादिना
च शिवपोषः प्रसिद्ध एवेति भावः । अत्र कोपादन्तरङ्गारिमथने आरु-
ण्यस्य कोपहेतूत्प्रेक्षा न सङ्गच्छते । यो हि यं मथ्नाति स तस्य
प्रभुरिति तस्य तेन प्रभावितत्वोत्प्रेक्षा न मनः प्रीणयत्यनुचितत्वात् ।
किञ्च कोपान्मुखनेत्रादीनामेवाऽरुणिमा प्रसिद्धो न तु देहस्येति सुधीभि-
र्विभावनीयम् ॥ ८ ॥

अथ सप्तम सुपार्श्वजिनं स्तुवन्नाह—

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्गहये ।

नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते ॥ ९ ॥

श्रीसुपार्श्वेति । चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते=चत्वारो
वर्णाः प्रकारा साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपा यस्मिन् स तादृशश्चा-
ऽसौ सङ्घश्च स साध्वादीना बहुसङ्ख्यकत्वान्महत्त्वाद् गगनस्याऽऽका-
शस्याऽऽभोगो विस्तारस्तस्य भास्वानिव प्रकाशेनेव ज्ञानेन तमोनाशक-
त्वाद् भास्वान्, तस्मै । “प्रपञ्चाऽऽभोगविस्तारव्यासा” इति हैमः । एतेन
सङ्घस्याऽतिविस्तृतत्वं भगवत सूर्यस्येव तमोनाशनेऽप्रतिमत्वं च ध्वन्यते ।
यथा सूर्यः स्वप्रचण्डप्रकाशेन गगनस्थमन्धतमसमपि सद्य एव नाशयति,
तथाऽयं जिनोऽप्यतिशयवत्या वाचा सज्ज्ञानप्रदानादिनाऽज्ञान दूरी-
करोतीति भावः । तदेव ज्ञानाऽतिशयो वागतिशयश्च प्रतिपादि-
तोऽवगन्तव्यः । अत एव, महेन्द्रमहिताङ्गहये=महान्त प्रतापादि-
भिरन्यापेक्षयोत्तमा ये इन्द्रा देवासुरनरेन्द्रास्तैर्महितौ पूजितावङ्गी

चरणौ यस्य स तद्वशास्तस्यै, महेन्द्रपूजितचरणाय । यो हि तावत्
 विष्णुशान्तिप्रदानं त एव महेन्द्रपूजितो भवति । मनुज
 “गुणा पूजास्वार्थं गुणियु न च लिङ्गं न च वयं” इति भाष्यम् ।
 अत्र पूजाऽतिशयं प्रतिपादितम् । “पद्मद्विभरणोऽस्मियमि” इति ।
 विशेष्यमाह— श्रीसुपार्श्वभिनेन्द्राय=सुपार्श्व=अस्मिन् गर्भस्थे बन्धे
 स्वमे पार्श्वे सर्पस्युयां हस्तवतीति जनन्या सुपार्श्वमव्यात्कृत्या तदु-
 चारेण सुपार्श्व इति कृताऽस्मिन्, न चाऽसौ अवन्ति रागादीनि
 विनास्तेषु देवेभ्यश्च इव भेदः भियाऽतिशयादिरूपवा युक्त्यस्तै
 श्रीसुपार्श्वभिनेन्द्रस्तस्यै । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशयो भवति, यो हि
 रागादिक्रियेता तस्य भाऽप्यत्यन्तेशोऽपि । नमः=नमस्कारः अस्ति-
 शेषः । ‘यत्ताऽन्यत्क्रियापदे न भूयते तथास्तिर्मन्त्रोपर-’ म्युक्तम्
 इति हि महाम्यम् । अत्रोपमाऽस्मिन् ॥ ९ ॥

अथाऽष्टमं चन्द्रप्रममिनि स्तुवन्माह—

चन्द्रप्रमममोऽबन्धमरीचिनिचयोज्ज्वला ।

मूर्तिर्मूर्धसितवपाननिर्मितेव भियेऽस्तु ॥ १० ॥

चन्द्रप्रमेति । चन्द्रप्रमममोः=चन्द्रस्य प्रमा कर्त्तरिच प्रमा
 यस्य स इत्यर्थनामा अस्मिन् गर्भस्थे मातृचन्द्रपानदोहवमात्पि-
 तृम्बा तदनुसारेण चन्द्रप्रमेति कृताऽस्मिन्, त चाऽसौ प्रसुः स्तुपदे
 स्मरिना पासकत्वादुज्ज्वलप्रकाशस्थानी तस्य, मूर्तिर्मूर्धसितवपाननिर्मितेव
 चमूर्त्तं अपि सितं शुद्धं च चन्द्रपानं शुद्धपानमिति प्रसिद्धं तेन निर्मिता
 पटितेवेत्युपेक्षा । ध्यानं न मूर्धम् किन्तु निर्माणनिर्वाहस्य चमूर्त्तता

मापन्नतयोत्प्रेक्षितम् । कथमन्यथा शुक्लध्यानवन्निरञ्जनत्वं तन्मूर्तेरिति भावः । ध्याननिर्मितत्वोत्प्रेक्षया च सर्वविधभावाऽतिशयः प्रतिपादितोऽवगन्तव्यः । सम्प्रत्यन्वर्थनामत्वायाऽऽह—चन्द्रमरीचिनिचयो-
ज्ज्वला=चन्द्रस्य मरीचीना किरणानां निचयः पुञ्ज इवोज्ज्वला शुभ्रा, चन्द्रकिरणपुञ्जवत्सिता निर्मलाऽऽह्लादिनी चेत्यर्थः । अत्र च शरीरद्युति-
वर्णनेन सर्वविध शारीरोऽतिशय उपलक्षणत्वात्सूचितो बोध्यः । सा केत्यपेक्षायामाह—मूर्तिः=तनुर्विम्बं वा, वः=युष्माकं स्तोतृणाम्, श्रिये=सम्पदे, अस्तु=भूयात् । “शोभासम्पत्तिपद्मास्तु लक्ष्मी श्रीरिव दृश्यत” इत्यमरः । उत्प्रेक्षोपमयो ससृष्टिः । यः स्वयं बाह्याऽऽभ्यन्तर-
श्रीसम्पन्नः, स एवाऽन्यस्याऽपि श्रिये भवितुमर्हति, नहि स्वयमसिद्धः परान् साधयतीति भावः ॥ १० ॥

अथ नवमं सुविधिजिनं स्तुवन्नाह—

करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।

अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिवर्धयेऽस्तु वः ॥११॥

करामलकवदिति । केवलश्रिया=केवलं केवलज्ञानं तस्य श्रिया जगत्पदार्थसार्थपरिच्छेदप्रगुणया सम्पदा, केवलज्ञानमेव श्रीरतिशय-
स्तया वा, अथ च केवलाऽऽत्मस्वभावात्मकत्वान्निरुपाधिकत्वाच्छुद्धाऽ-
द्वितीयाऽसहाया च या श्रीश्चिद्रूपा सम्पत्तिः केवलज्ञानं तथा, विश्वम्=
अतीताऽनागतवर्तमानसर्वद्वयपर्यायविशिष्टं चराचरात्मकं जगत् ।
करामलकवत्=करो हस्तस्तस्य तत्स्थत्वात्तत्सम्बन्धिं यदामलकमामलक्या
घाज्या. फलं तद्वत्, कलयन्=पश्यन् जानन् वा, यथा हि करस्थमा-

मसकं सुकरतया सर्वथा परिच्छिद्यते तथा भगवता केवलज्ञानमिया
 निष्कर्मित्यर्थः । ज्ञानावरणादिभातिकर्मणां साकारत्वेन ह्यस्य एव केवलो
 त्यतेत्यस्तुसर्वाविवक्षकं तज्ज्ञानमितिमात्रम् । एतेन ज्ञानातिष्ठस्य स्पष्ट
 एव प्रतिपादितः । कस्मतिरत्र ज्ञानार्थः, कस्मतिर्हि कर्मभेदः । अत एव,
 अविन्त्यमाहात्म्यनिधिः = अविन्त्यत्वाऽगम्यस्य मनसोऽप्यविवक्ष-
 त्येत्यर्थः । यद्वि चिन्ताऽस्तीति तद्व्याप्यतीतमिति किमु वक्तव्यमितिमात्रम् ।
 तादृशस्य माहात्म्यस्य महिमो निषिराकरः, किम्पित् परं माहात्म्यं मवेच्छतु
 ज्ञानेन विषयकजनम् । तत्र कर्मचक्षुषां चिन्तयितुमप्यसक्यम् । तादृश-
 साम्प्रदाय एवाऽसम्भवात्स्पष्टेन स्वयम्बुद्धिभोऽज्ञेयत्वादितिमात्रम् । एता-
 वामस्य महिमा अतो व्यापार्य पूर्य इति ह्यसम् । नन्वीदृशस्य
 इति विशेष्याकृद्भाष्यपूरणाय—सुविधिः=सुविधिरित्यभिधेयो कर्म-
 स्तीर्णहर अस्मिन् गर्भस्थे मातुः सर्वविधियु नैपुण्यात्पितृभ्यां तदनु-
 सारेण सुविधिरितिह्यतामिस्य पुण्यदोहदेन दन्तोद्वमाच पुण्यदन्तेत्य-
 परन्तमा सुशोभन सकलेष्टप्रदत्तागिरपायत्वाच्च मनोभो विधिर्मुक्त्यादि
 साधनमनुष्ठानं यस्य प्रतिपादनसम्बन्धेन यत्तत्कर्मवीर्यकर्मनामा च, व।=
 मुप्याकम् बोधये=परमार्थज्ञानाय अस्तु=मस्तु । यो हि परमार्थस्य
 सर्वत्रस्तस्यैव बोधिवानऽभिकारात् । यदुक्तम्—“गुरुत्वं स्वत्वं मोदेति
 शिक्षासात्त्वेन यावता । आरमत्त्वमकारोगं तावत्सेम्यो गुरुत्वं”
 इति । वेदोक्तं कस्मिन् च व्यच्छिद्यतोऽपि पदार्थसार्थो भगवतः पदस्याऽऽमल-
 कत्वात्पुण्यस्य इव परिच्छेदोऽमलकमेवस्यऽऽतोऽमलमिति, नैतादृशमितिमात्र-
 कस्याऽपीति सम्याऽबौद्धिकमाहात्म्यविशिष्टत्वात्त एव बोधः सम्भवति
 नाऽन्यमावनीदृशमितिमात्रः ॥ ११ ॥

अथ दशमं शीतलजिन स्तुवन्नाह—

सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्भेदनवाऽम्बुदः ।

स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलः पातु वो जिनः ॥१२॥

सत्त्वानामित्यादि । सत्त्वानाम्=जीवानाम्, परमानन्दकन्दो-
द्भेदनवाऽम्बुदः=परमः शाश्वताऽखण्डत्वात्सर्वोत्कृष्टो य आनन्दः सुख-
मयत्वम्, स एव कन्दः पृथिव्यामिवाऽऽत्मनि सावरण स्वभाधत एव स्थित-
त्वादङ्कुरमूलविशेष इव, तस्योद्भेदोऽनुभवात्मकाऽङ्कुरोद्गमस्तस्य तत्सहका-
रित्वात्तत्सम्बन्धी नवाम्बुदो नूतनजलधर इव । वर्षर्तौ नूतनजलधरेण
हि तद्दृष्टसलिलसम्पर्कात्कण्डादङ्कुरोद्गमः प्रसिद्धः, जिनेनाऽपि च प्रवच-
नादिना तत्पालनादिरूपसम्पर्कवशान्मुक्त्याद्यात्मकपरमसुखोद्गम इति
भावः । ननु न नवाम्बुदसत्तामात्रेण कन्दोद्भेदः, किन्तु तद्दृष्टसलिल-
सम्पर्कादिनेति कथन्तानिवृत्तये—विशेषणमाह— स्याद्वादाऽमृतनिः-
स्यन्दी=स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्, ततश्च स्याद्वादोऽनेकान्तवादः,
एकस्मिन्नेव धर्मिणि विरुद्धसामान्यविशेषनित्याऽनित्याऽभिलाष्यानभिलाष्य-
सदसत्त्वमेदाऽमेदाद्यनन्तधर्मस्वीकारः । स एव वस्तुयाथात्म्यप्रतिपाद-
कत्वादज्ञानात्मकविषमविषप्रमोषप्रगुणत्वादानन्दकन्दोद्भेदप्रयोजकत्वा-
च्चाऽमृत पीयूषं पयश्च, तन्नि स्यन्दते उपदेशादिना वर्षणेन च सिञ्चती-
त्येवगील, स्याद्वादात्मकाऽमृतसेचक इत्यर्थः । “पीयूषममृतं सुधे”ति
“पयःकीलालममृतमि”ति चाऽमरः । न चेदृशः कोऽपि साधारणो जनः
इत्याह—जिनः=वीतरागः, एतेनाऽलौकिकाऽतिशयसामग्री सूचिता,
वीतराग एव हि सकलाऽलौकिकाऽतिशयसम्पन्न इति तस्य तादृश-

स्याऽऽनन्दकन्दोद्ग्रेदनममृतनिःस्यन्दनं च नाऽतिवृद्धिः मास । मयै-
 तावताऽनुवदन्निर्हेतुकतया विधोपकारकत्वं ध्वन्यते । स क इति
 विरोध्याऽपेक्षायामाह—हीतलः=हीतं भावमपानत्वाच्छस्यं सति सद्रु-
 देशादिना भक्त्यापाऽपहरणमुन्नेन सम्पादयतीत्यन्वयनामा अस्मिन्
 गमस्ये मष्टुरजस्यसात्पितृसापाऽपहाराचक्षुसारेण पितृभ्यां हीतल इति
 कृताऽमिस्त्वय दशमस्त्रीर्बह्वरः, वा=शुभान्, पातु=कृत्वाद्, अपा-
 यादित्यर्ककालम्यत । तत्तद्य एव रक्षको मस्तिमर्हति नृज्जाहकः,
 तस्य स्वस्मसिद्धत्वादिति हृदयम् । आनन्दोद्ग्रेदव्याऽन्य कन्दोद्ग्रेद
 व्याऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽन्यमेवाध्यक्षमायकृपातिशयोक्त्येपि ताऽमृतैरिति
 श्लेषाऽनुप्राप्तितोपमाऽपहरोऽत्र बोध्य ॥ १२ ॥

अथैकवचं भेयांसजिनं स्तुषणाह—

मरुतोगार्चन्तुनामगदङ्गारदर्शनः ।

निःश्रयसन्नीरमणः भेयांसः भेयसेऽस्तु वः ॥ १३ ॥

मरुतोगेति । मरुतोगार्चन्तुनाम्=मरुतुस्य चरे बन्तुरस्मिन्निति
 मरुतुर्गतिक ससार स एव रुद्रत्वेनेन कृत्वा बीब इति रोग
 व्याध्यात्मिकाऽऽजैविकत्रऽऽभिगौनिकत्रात्मिकाधिकमानसिकप्रमादिक्रोधादि
 ज्वरादिपीडानिमित्तमाणात् । एकान्तेन रोगनिमित्तत्वमनिपादनाय कर्म
 कारणोपचाराद्वा गम एव रोग व्याध्यात्मिकत्रिपीडा, मये हि तेषा-
 माध्यात्मिकद्विदुःखानामवस्थमाणात् । मय्य हि न ममस्तस्य न रोग
 इति रोग भवनिमित्त एव । यद्वा मयो बन्धु, तत्तत्सत्त्वात्तत्सम्बन्धी यो
 रोगस्तेनाऽऽर्त्ता प्रस्था पीडिता व्याकुल्य असातमनुमन्तो ये बन्तव.

प्राणिनस्तेषाम् भवात्मकरोगपराभूतानां प्राणिनामित्यर्थः । अगदङ्कार-
दर्शनः=गदो रोगः, “रोगव्याधिगदाऽऽमया” इत्यमरः । न गदो
यस्य सोऽगदस्त तादृशं करोतीत्यगदङ्कारो भिषक्, योगमहिम्ना रोगाऽप-
हारकत्वात्तद्रूपं दर्शनं प्रतिविम्बाद्यवलोकनं शासनं स्याद्वादाख्यं दर्शनं
वा यस्य स तादृशं, भवरोगाऽपहारकदर्शनं इत्यर्थः । वैद्येन कृत्वा
रोगस्यैव जिनप्रतिमादिदर्शननस्तच्छासनाऽऽराधनादिना च पापविशुद्धे-
र्गुणवृद्ध्या भवस्योच्छेदात् । यदुक्तम् ‘इत्याज्ञाराधनपरा अनन्ता
परिनिर्वृताः । निर्वान्ति चाऽन्ये क्वचन निर्वास्यन्ति तथाऽपरे” इति,
“भ्रान्तस्तीर्थानि दृष्ट्व मयैकस्तेषु तारक” इति चेति भावः ।
तदुपपादकं विशेषणमाह—निःश्रेयसश्रीरमणः=निश्चितमेकान्तेन
श्रेयःशर्म न तु कथञ्चिदपि दुःखसम्भिन्नमिति निःश्रेयसमुक्तिस्तस्य तद्रूपा
वा या श्रीसम्पच्छाश्वताऽखण्डानन्दस्तस्य रमते इति रमण, मुक्त्यात्म-
कशाश्वताऽखण्डाऽऽनन्दमग्नः, स क इत्यपेक्षायामाह—श्रेयांसः=तदाख्य
एकादशस्तीर्थङ्करः, अस्मिन् गर्भस्थे जनपदे सर्वथा श्रेयोभावात् श्रवण-
नक्षत्रे जन्मभावाच्च तदनुसारेण पितृभ्यां श्रेयांस इति कृताऽभिरुच्य,
चः=युष्माकम्, श्रेयसे=कल्याणाय, यत्प्रशस्यतमं तत्सिद्धये इत्यर्थः ।
अस्तु=भवत्विति प्रार्थये । प्रशस्यतमश्च भवरोगवियोग इति तादृश-
विशेषणोपादानेन भङ्ग्या सूचितः । यद्वा भवरोगाऽपहारान्मुक्त्याख्य-
श्रेयःप्राप्तिरेवेति—भवरोगोच्छेदकत्वान्मुक्तयेऽस्तु । भवरोगोच्छेदकस्य
स्वयसिद्धस्य मुक्तये प्रभुत्वोचितैवेति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः,
स च निःश्रेयसश्रीरमण इति श्रीतिल्लीलिङ्गसाम्याद्रमण इति श्लेषाच्च
स्त्रिया रमण इवेति समासोक्तिसस्पष्टः । तेन च यथा पति स्त्रिय तथाऽय

मुक्तिं यद्येषुपगोक्तं प्रभुरिति तस्य कस्याणपरान्तममीसाक्ष्य-
मुक्तम् ॥ १३ ॥

अथ द्वादशं वासुपूज्यजिं स्तुवन्नाह—

विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।

सुरासुरनरैः पूज्यो वासुपूज्य पुनस्तु वः ॥ १४ ॥

विश्वोपकारकीति । विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः =
न विश्वोपकारकं विश्वोपकारकं सम्पन्नमिति विश्वोपकारकीभूतं यत्
तीर्थकृत्कर्मिण्यस्य कर्म तीर्थहरनामकर्म । तीर्थहरनामकर्मणो हि प्रवच-
नादिना विश्वोपकारः परिणाम इति स्वभावादेव सर्वविश्वोपकारविपाकमित्यष्टौ
विश्वोपकारकीभूतमिति बोध्यम् । तादृशस्य तस्य निर्मितिर्निर्माणं यस्य
स तादृश इति व्यधिकरणबहुमीदृि । येन विश्वोपकारकीभूतकर्मि-
कृतामकर्मोपाश्रिते = इत्यर्थे, समुत्पिज्यसमूहकृष्टकर्मति इत्यम् । एतेन
तीर्थकृतो निष्कारणविश्ववत्सत्यं जन्यते । कर्मण एव तस्याविपाकपत्र-
करणात्सुराजनपक्षणादिति बोध्यम् । अत एव सुरासुरनरैः = सुराभ्यः-
सुराभ्य नराभ्योपलब्धमत्वावन्मे जीवाभ्य, तैः पूज्यो = नमस्य । बहुक्तम्
अगलमतीक्ष्य । स्वा यान्ति पक्षिणाऽपि मरुक्षिण्यमि' ति, ' त्वं विश्वो
ज्जनि पीता हर्षोद्गीर्णै र्मुगैरपी' ति च । यो हि निष्कारण विश्वोपकार-
कस्तस्य निष्पूज्यतोक्तिरैवेति भावः । विश्वोपकारको विश्वपूज्यमेवेति
निष्कृत्योऽर्थः । अनुक्तम्— 'सर्वे येनोपमूष्यन्त समूहा हेतुपादयाः ।
मृगा यस्मै नमस्यन्ति सुरासुरनरेभ्यः' इति । विदोष्यमाह— वासु
पूज्यः = उग्ररूपो द्वादशस्त्रीर्षिकरो बहुपूज्यनृपालाय । वः = युष्मान्,

पुनानु=शुचीकरोतु, तीर्थङ्करेण हि सदुपदेशाद्यात्मकोपकारादिना सन्मार्ग-
प्रशंसात्तदाराधनेन कृत्वा कर्ममलाऽपकर्षणाज्जीवानां शुचित्वसम्पत्तिरिति
वाचस्पृज्य पुनात्वियुक्तमित्यवगन्तव्यम् । यो हि विश्वोपकारको विश्व-
पूज्यस्ततो विश्वपवित्रीकरणाऽऽशोचितैवेति ध्येयम् ॥ १४ ॥

अथ त्रयोदश विमलजिनं स्तुवन्नाह—

विमलस्वामिनो वाच कतकक्षोदसोदराः ।

जयन्ति त्रिजगच्चेतो जलनैर्मल्यहेतवः ॥ १५ ॥

विमलेति । विमलस्वामिनः=तदाख्यस्य त्रयोदशतीर्थङ्करस्य,
अस्मिन् गर्भस्थे जनन्या नैर्मल्यभावात्तदनुसारेण पितृभ्यां विमलेति
कृताऽभिरुच्यस्य, विगतं मलं यस्मात्तादृशस्य वीतरागस्येत्यन्वर्थता च
ध्वन्यते । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशयं प्रतिपादितं । तत्सहचारित्वाच्च
ज्ञानाऽतिशयं, पूजातिशयश्च स्वयमूह्यः । वचनाऽतिशयमाह—कतक-
क्षोदसोदराः=कतकं तदाख्यो जलशोधको द्रव्यविशेषः, कतकाख्य-
तरुफलं वा । तस्य क्षोदश्चूर्णम्, तस्य सोदरः—सोदरो हि सदृशो
भवतीत्यतिसादृश्यप्रतीतिप्रयोजनया लक्षणया सदृश्य इत्यर्थः । सादृश्यं
समर्थयस्तादृशं विशेषणमाह—त्रिजगच्चेतो जलनैर्मल्यहेतवः=तयाणां
जगतां तात्स्थ्यात्ताच्छब्दव्याख्यायाज्जगत्त्रयस्थितप्राणिनां चेतांसि मनसि
सलिलानि जलानीव कषायादिरूपमलादिकलुषितानि, तेषां नैर्मल्यस्य
निष्कलुषत्वस्य हेतवो निमित्तभूताः । जलानां कतकक्षोदा इव त्रिजग-
ज्जनमनसा कलुष्याऽपाकरणेन कृत्वा शुचित्वसम्पादिका इत्यर्थः
विशेष्यमाह—वाचः=देशनावाण्यः, कतकक्षोदक्षेपेण कलुषं जल-

ममाविर्लब्धं जायते इति प्रसिद्धम् । तथा भगवद्भूषणाऽऽराधनं कृत्वा
 रागाद्युच्छेदकत्वेत्सो विशुद्धिमायत इति भावः । अत एव, जयन्ति=
 सर्वोत्कर्षेण वर्धन्ते । अन्तर्द्वीपवाचाऽनीहस्तत्वादिति भावः । एतत्
 वचनाऽतिशयोक्तमेव प्रतिपादितम् । उपमाऽङ्गहारः ॥ १५ ॥

अथ चतुर्वक्ष्यमनन्तजिह्वं सुकृताह—

स्वयम्भूरमणस्पर्षिकृष्णारसवारिणा ।

अनन्तजिह्वं नन्तां च प्रपच्छतु सुखधियम् ॥ १६ ॥

स्वयम्भूरमणेति । अनन्तजिह्वं = तदात्म्यचतुर्वक्ष्यमङ्गहारः,
 अस्मिन् गर्भस्थं पिताऽनन्तं सनुबलं त्रितमिति तदनुसारेण त्रिभुव-
 नमन्तजिह्विति कृताऽऽदिभ्योऽनन्तज्ञानादिसमन्वितत्वात्मानन्तं ज्ञानादिकं
 जयति स्ववशीकरोतीत्यनन्तजिह्वित्यन्वयनामा, स्वयम्भूरमणस्पर्षिक
 कृष्णारसवारिणा = स्वयम्भूरमणं स्रक्सागरान्तिमत्तदात्म्याऽऽङ्ग-
 त्वोन्मत्तविद्यारसगारमणं स्पर्षते स्वपरिमाणेन परामित्युपनिष्कृतीत्येवंशीलं
 स्वयम्भूरमणात्म्यसागरकक्षाऽपङ्क्याऽप्यधिकपरिमाणं यत्कृष्णं परतुल्यं
 यद्वाणेच्छा, तदात्म्यं रसवारिं स्वादुसस्मिन् कृष्णात्म्यो रस एव धारीति
 वा तेन कृत्वा, नि सीमकृष्णमेत्यर्थः । एतत्तन् मगवान् कृष्णत्वात्कृष्ण
 इति ध्वन्यते । यद्वा कृष्णारसवारिणा कृत्वा स्वयम्भूरमणस्पर्षी अनन्त-
 जिह्वित्यन्वयः । स्वयम्भूरमणस्पर्षपरिमाणाऽपेक्षयाऽप्यतिपरिमाणकृष्णार-
 सवारिपूर्ण इति समुदात्मपरमार्थः । अत एव, वा = युष्मन्भूम्,
 अनन्ताम् = साध्वीमप्यन्तं सर्वकर्मपरिधायोपनयाम्, सुखधियम् =
 सुखस्य श्री समृद्धिस्ताम् अविगन्धरसुखसम्पदमिति समुदायार्थः ।

प्रयच्छतु=वितरत्विति प्रार्थये । यो ह्यनन्तकस्यापूर्णोऽनन्तजिच्च, तत
एवाऽनन्तमुखलामसम्भवः, यदुक्तम्—“पूर्णात्पूर्णमुदच्यत” इति भाव ।
उपमानादुपमेयस्याऽऽधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकाऽलङ्कारः ॥ १६ ॥

अथ पञ्चदश धर्मनाथजिन स्तुवन्नाह —

कल्पद्रुमसधर्माणमिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम् ।

चतुर्धा धर्मदेष्टार धर्मनाथमुपासहे ॥ १७ ॥

कल्पद्रुमेति । शरीरिणाम्=प्राणिनाम्, “प्राणी तु चेतनो
जन्मी जन्तुजन्युगरीरिण” इत्यमर । इष्टप्राप्तौ=इष्टस्याऽमिलषिता-
र्थस्य प्राप्तौ लाभे, कल्पद्रुमसधर्माणम्=कल्पद्रुमस्य, समानो धर्मो
यस्य स सधर्मा सदृशस्त तादृशम्, कल्पवृक्षवदिष्टप्रदमिति मिलितार्थ ।
तत्र हेतुगर्भ विशेषणमाह — चतुर्धाधर्मदेष्टारम्=चतुर्धा दानशीलतपो-
भावभेदाच्चतुर्विधो यो धर्म उपलक्षणत्वात्तत्सञ्चयहेतुरनुष्ठानादि, कारणे
कार्योपचारादानक्रियादिरपि धर्म । त दिशत्युपदिशतीति स
तादृशस्तम् । चतुर्धाधर्माऽऽराधनेन प्राणिना सकलेष्टसिद्धि, इष्टो हि
धर्म एव तेषाम् । तल्लभे चैष एव कल्पतरु, अन्यत्र प्रयस्याऽपि स
दुरापश्चेति भाव । विशेष्यमाह — धर्मनाथम्=तदाख्य पञ्चदश
तीर्थङ्करम्, अस्मिन् गर्भस्थे मातुर्धर्मक्रियादोहदभावात्तदनुसारेण
पितृभ्या धर्मनाथेति कृताऽमित्यम्, चतुर्धा धर्मदेशकत्वाद्धर्मस्य नाथ
इत्येवमन्वर्थाऽभिधम्, उपासहे=भजामहे । धर्माऽभीप्सूना धर्मदेष्टा
धर्मनाथ एव शरणमिति भाव ॥ १७ ॥

अथ बोद्धव्यं शान्तिभिर्न स्तुतमाह—

सुधासोदरबाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः ।

मृगलक्ष्मा समःशान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

मुपेक्ष्यति । सुधासोदरबाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः=

सुधाऽसृते सस्यास्तृप्तिप्रदत्वान्मुक्तिमार्गादिप्रतिपादनेन कृत्वाऽमरत्व-

प्रदत्वाद्दुर्लभत्वाच्च सोदरा सदृशी वा बाग् देसनत्वाभ्येव सुधासम्बन्धेन

निर्मलीकृतगणमना च तादृत्वाऽऽशोखा चन्द्रिका, “चन्द्रिका

कौमुदी ज्योत्स्ने” इत्यमरः । तथा कृत्वा निर्मलीकृतानि कर्मसंयोगस्य

प्रदर्शनेन कृत्वा कर्ममस्मद्वितानि समोपाशाद्व्यससद्वाबाध प्रसक्तानि

कृतानि विद्यां कर्तुमां मुक्तानि मुक्त्वस्तुरः स्थितत्वात्पुरोन्मगा

तात्पर्यात्तादृक्प्रत्ययपचारादिगन्तवास्तस्याः प्राप्तिरस्य येन स तादृशः ।

“विस्तु कर्तुम् कष्टम्” इत्यमरः । ज्यो-शामि हि विद्यो निर्मली

करणमुच्यते । यथा ज्योशामिर्दिगन्तर्ष्यन्ते प्रकाश्यते तथा वाचा

सर्वे ज्ञानात्मना प्रकाश्यन्ते । प्रकाशनेन ज्ञानेन समोऽज्ञानस्य

समुन्मूलनादिति तात्पर्यम् । एतेन सम-शान्तिमात्मसीतात्मन्युक्तम् ।

अथ एव कर्मनौत्पारसावर्थात् मृगलक्ष्मा=मृगो हरिश्च स एव

लक्ष्मणः समन्तं यम्य स तादृशो हरिणव्यामृतेन चन्द्रकपयः । शान्ति

जिनस्य मृगे लामृतेनमिति प्रसिद्धमेव । हिमांशुधन्वमाधन्व ..

मौर्मृगाश्च कल्पनिधिरिति “कण्ठादौ लामृतेन च चिद् व्यस्य

च लामृति नि पाठः । विशेषमाह—शान्तिनाथजिनः=शान्ति-

स्वरूप्य बोद्धव्यमर्थद्वयं अस्मिन् गम्यते लोके सर्वोपद्रवशान्ति

जतिरिति पितृभ्यां तदनुसारेण शान्तिरिति कृताऽभिरुच्य शम्यादित्या-
शास्यमानः, स एव सन्मार्गोपदेशादिना पालकत्वान्नाथ इव नाथ. स्वामी,
स चाऽसौ जयति रागादीनिति जिनः, स तादृश । वः=युष्माकम्,
तमःशान्त्यै=तमसोऽन्धकारस्य वस्तुयाथात्म्याऽवबोधप्रतिपत्तित्वसा-
धर्म्यादुपचारादज्ञानस्य च शान्त्या उपशमाय, तमोनाशयेत्यर्थः । प्रबोध-
प्रकाशायेति यावत् । अस्तु=भवत्विति प्रार्थये । यो हि शान्तिनाथ-
स्तत एव तमःशान्तिप्रार्थनमनुगुणम् । ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखश्च
मृगलक्ष्मा तमःशान्त्यै भवत्येवेति शान्तनाथस्तुतिरवश्यफलप्रदेति
च्यव्यते । परम्परितरूपकाऽलङ्कारस्तस्य चोपमाऽङ्गम् ॥ १८ ॥

अथ सप्तदश कुन्धुजिनं स्तुवन्नाह—

श्रीकुन्धुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयद्विभि ।

सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु च श्रिये ॥ १९ ॥

श्रीकुन्धुनाथ इति । सुरासुरनृनाथानाम्=सुराश्चाऽसुराश्च
नरश्च तथा तेषामेव नाथाश्च, यद्यपि सुरादिनाथा अपि सुरादय एवेति
पृथङ्नाथोक्तिर्गतार्था, तथापि ब्राह्मणवशिष्टन्यायेन पृथगुक्तिर्वोद्ध्या ।
सुरनाथादिनाथश्च जगन्नाथ एवेति तिर्यंगाद्यनुक्तेर्न न्यूनता । सुरादीन्
विहाय तन्नाथानामेव तात्पर्यविषयत्वे च न्यूनता समापद्यत एव, नहि
सुरादिनाथनाथ एव कोऽपि न तु सुरादिनाथ इति युक्तिमत् । यद्वा
य सुरादिनाथनाथ स सुरादिनाथ सुतरामिति यथेष्ट व्याख्येय न
काऽपि निर्वन्ध । तेषां देवदानवमानवेन्द्राणाम् । एकनाथः=एको
द्वितीयस्य तादृगस्याऽभावादेकमात्र स्वयमनाथत्वाच्च प्रधानं च नाथ.

धीसमृद्धत्वादिना स्वामीव स तादृश सर्वव्यापक इति मिश्रितार्थः ।
 तत्र हेतुगर्भे विशेष्यमाह—अतिशयार्थिभिः=अतिरोते लोकनेमि-
 रित्यतिशया बलौकिकान्तरसाधारणगुणा प्रसिद्धा सहस्रवर्तिश्वर,
 सस्य अद्भुतोऽतिबहुत्वम् । यदुक्तम्—‘स्वामिन्! सहस्रवर्तिश्वर
 शक्तो वस्तुं न ते गुणानि’ इति । अतिशय एव अद्भुत सम्प्र इति
 वा तादि कृत्वा सनाथः=समन्वितः लोकेऽपि हि सुरादिनाथो-
 ऽन्यापेक्षया कृतिप्रमाऽतिशयसम्पन्नो भवति अयं स्वतिशयार्थिभिः सम्प्र
 इति सुरासुरनृनाथालामेकनाथो भवत्येवेति भावः । अत एव
 भगवान्=भग एश्वर्यादिस्तद्भान्, प्रसस्तभूमेभ्योदिसम्प्र इत्यर्थः ।
 “ऐश्वर्यस्य समप्रस्य धर्मस्य बलसः प्रियः । ज्ञानवैराग्यमोक्षैश्च
 पण्णां भग इतीरणे त्युत्तरति बोधम् । विशेष्यमाह—
 भीष्मुपुनाथः=भीसमन्वितः कुम्भुनादेत्यात्म्य सप्तदशस्तीर्णहर,
 अस्मिन् गर्भस्व स्वप्न मात्रा कुम्भुनामरजराश्विदक्षिणाचक्षुस्यारेण विदुष्यां
 कुम्भुनादेति कृताऽमिष्य बः=कुम्भाकम्, भिवे=ज्ञानादिसम्प्रदे
 अस्तु=भवत्विति प्रार्थने । ३. सर्वभीस्त्वस्य स एव प्रिये भवितु
 मर्हतीति भावः ॥ १९ ॥

अथाऽष्टावक्ष्यमरमाश्रिते सुवभाह—

अरनाथ स भगवांश्चतुर्थाऽनमोरविः ।

चतुर्थपुरुषाथभीषितासं वितनोतु व ॥ २० ॥

अरनाथ इति । सः=अगति चतुर्थपुरुषार्थमदत्त्वेन न्यस्तः,
 चतुर्थाऽनमोरविः=चतुर्थो द्वावसारे कालधने तुरीयो योऽरधक-

स्याऽऽ इव भाग इत्यर इति ख्यातश्चतुर्थोऽंशो दु पमसुपमाऽऽः, स
 एवाररविणाऽधिष्ठीयमानत्वाज्ज्ञानादिप्रभया प्रकाश्यमानत्वाच्च नभो
 गगनम्, “नभोऽन्तरीक्ष गगनमि”त्यमरः । तस्य तत्प्रकाशकत्वात्त-
 दधिष्ठानत्वाच्च तत्सम्बन्धी रवि प्रकाशकत्वादिसाधर्म्याद्रविरूपः ।
 सूर्यो यथा गगने सर्वताराग्रहाद्युत्कृष्ट सर्वलोकप्रकाशकश्च, तथाऽऽ-
 नाथोऽपि चतुर्थीरे सर्वोत्कृष्ट सर्वप्राणिप्रबोधोद्बोधकश्चेति भावः । कुत
 इत्याकाङ्क्षानिवृत्तये आह—**भगवान्**=ऐश्वर्यादिरूपभगसम्पन्न, यो हि
 भगवान् स लोकोत्तमो भवत्येवेति हृदयम् । अत एव, सः=सर्व-
 जगत्ख्यात, विशेष्यमाह—**अरनाथः**=तदाख्योऽष्टादशस्तीर्थङ्करः,
 अस्मिन् गर्भस्थे मात्रा स्वप्ने चकारदर्शनात्पितृभ्या तदनुसारेणाऽऽ इति
 कृताऽमित्यः, वः=युष्माकम्, **चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासम्**=चतुर्थो य-
 पुरुषस्याऽर्थः प्रयोजनं धर्माऽर्थकाममोक्षेष्वाप्त्यो मोक्षनामा पुरुषार्थस्तस्य
 या श्री शाश्वताऽखण्डानन्दादिलक्ष्मीः, अथवा तद्रूपा या श्रीस्तस्या
 विलास प्राकट्येन सान्निध्यम्, तम्, **वितनोतु**=उपदेशादिना
 सज्ज्ञानप्रदानेन कृत्वा सम्पादयतु । चतुर्थस्थस्य चतुर्थप्रदत्वमनुगुणमेव ।
 किं च स एव चतुर्थपुरुषार्थप्रद, यदुक्तम्—“जगन्ति मिन्दन्तु सृजन्तु
 वा पुनर्यथा तथा वा पतय प्रवादिनाम् । त्वदेकनिष्ठे भगवन् ।
 भवक्षयक्षेमोपदेशे तु पर तपस्विनः” इति भावः । परम्परितरूपका-
 ऽलङ्कारः ॥ २० ॥

अथैकोनविंश मल्लिजिनं स्तुवन्नाह—

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम् ।

कर्मद्रुन्मूलने हस्तिमल्लं मल्लिमभिष्टुम् ॥ २१ ॥

सुरासुरेति—सुरासुरनराभीशमयूरनववारिदम्=सुरायासुराभ
नराभ्य तेषामेवाऽभीष्टा इन्द्राथ सुरासुरनराभीशा एव मयूरा बहिर्व,
“मयूरा बहिर्णा बर्ही गुह्यापात शिन्वावत” इत्यमरः । तेषां मयो-
ज्युर्वे, इतरविकल्पणार्थपदत्वादिनिमित्तम् । स तादृशो ज्ञानातिशयादि
प्रचुरतरसत्तिस्सम्पृक्तत्वादन्यत्रापि वारिदो मेघस्तद्वत् इत्यर्थः । मयूरो हि
मघमं सस्मिन्सम्पृक्तमुत्तमं वारिदं दृष्ट्वा हृष्यति केकरवं कराति नृत्सति
च । सुरादयश्चाऽपि मत्तिमिनं दृष्ट्वा हृष्यन्ति जयकुमारत्वं कुर्वन्ति
नृत्वादि च कुर्वन्ति । दृष्टस्य हि वातिरियमिति सुष्ठुक्तं मयूरमवस्थादि
मिति । सुरादिमयूरनववारिदत्वे हेतुगर्भे विशेष्यमाह—कर्मद्रुन्मूलने
=कर्माण्येव दृढबद्धमूलत्वाज्ज्ञानावरणादिनानाशस्समस्तत्वाद्बुद्धिभेदा-
ऽनिष्टफलत्वाच्च द्रवो द्रुमास्तेषां ज्ञानचारित्रादिना स्वकीयानां परकीयानां
च सम्मार्गोपदेशादिनान्मूलने मूलसुत्पादने रिपये, विनाशने इत्यर्थः ।
इतिमल्लम्=पेराकान्मन्त्रं गजेन्द्रम् तद्रूपमित्यर्थः । गजेन्द्रस्य हि
द्रुमोत्पादनं प्रसिद्धमेव । एतेन कर्मनाशने यस्य सुकरमिति ध्वन्यते ।
वकातिशयादि गजेन्द्रोऽनतिप्रमासेनैव द्रुममुन्मूल्यतीति बोध्यम् ।
यदुक्तम् ‘त्वत्तो माऽज्यं कर्मकक्षमुन्मूल्यति मूलतः’ इति । ‘पेराकतो
हस्तिगणः श्वतगणोऽग्रमुपिब’ इति हैमः । कर्मकक्षवर्षितानां हि
तापकुक्षानां मयूराणां तापनाशक्ये वारिदं इव कर्मद्रुमोन्मूलकमे मत्तिरिति
इदम् । अत्र वारिदरूपस्य द्रुमपोषकत्वाऽनुपपत्तायस्य द्रुमोन्मूलक्यद्वि-
मल्लतया रूपमसमञ्जसमिव प्रतिगम्यतीति समाख्येयनीयम् । विशेष्यमाह—
मल्लम्=स्वात्ममूलनिष्ठतीर्णहृत्तम्, वास्मिन् गम्यमे मातुः पुत्र्य
मास्यस्यपरोहवाचननुसारेण पितृभ्यां मत्तिरिति ह्युक्तमित्यम्,

अभिष्टुम = गुणकीर्त्तनेन कृत्वा तदभिमुख्यं साधयामः । आनन्द-
लभार्थं कर्मोन्मूलनार्थं चेति तादृशविशेषणमहिम्ना प्रतीयते ॥ २१ ॥

अथ विंशतितम मुनिसुव्रतजिन स्तुवन्नाह—

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूपसमयोपमम् ।

मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुम ॥ २२ ॥

जगदिति । जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूपसमयोपमम् = जगत-
स्तात्स्थ्यात्ताच्छब्दयाज्जगज्जन्तूना यो महाननादिकालप्रवृत्तत्वादुत्कट-
त्वाच्च दीर्घो गाढश्च यो मोहोऽनात्मनि ममत्वबुद्धिः, यदुक्तम् “अनित्य-
धनदेहादौ नित्यत्वेन ममेति च । अज्ञानेनाऽऽवृता बुद्धिर्मोह इत्यभि-
धीयते” इति । स एव सत सज्ज्ञानस्याऽन्तरायत्वात्तदागमप्रतिपन्थि-
त्वाच्च निद्रा शयनमिव, “स्यान्निद्रा शयनं स्वाप” इत्यमरः । तस्या निवर्तन-
साधनलक्षणेन सम्बन्धेन तत्सम्बन्धी यत्प्रत्यूषोऽहर्मुखम्, “उषसि
प्रवृद्धयेते” त्युक्तेरिति भावः । “प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमि” त्यमरः ।
तदात्मक समय काल, दिवसस्य पञ्चपञ्चाशत्तमघटिका । यदुक्तम्
“पञ्च पञ्च ऊष कालः सप्त पञ्चाऽरुणोदयः । अष्टपञ्च भवेत्प्रातःशेषः
सूर्योदयः स्मृतः” इति । स निवर्तकत्वसाधर्म्यादुपमा यस्य तत्तादृशम् ।
यथा प्रत्यूषकालेन निद्राविलयो ज्ञानागमश्च, तथा मुनिसुव्रतवचनेन
मोहव्यपोहः सज्ज्ञानलभश्चेत्यर्थः । मुनिसुव्रतनाथस्य = मुनिसुव्रतस्त-
दाख्यश्चाऽसौ मोहनाशाद्यर्थमाशास्यमानत्वान्नाथश्च तस्य तदाख्यस्य
विंशतितमतीर्थङ्करस्य, अस्मिन् गर्भस्थे मातुर्मुनेरिव सुव्रतभावात्तदनु-
सारेण पितृभ्यां मुनिसुव्रतेति कृताऽभिख्यस्य, तदुचरितत्वेन तत्सम्बन्धी-

स्यर्ध । देशनामकनम्=देशना धर्मापदेशस्तुत्रं कनम्, मन्त्र-
मित्त्वर्थः । स्तुमः=कीर्तयामः, मोहनिकपो गतनिद्रस्येष विव्रीनमोहस
वस्तुयापास्याऽवधामध यथा स्यादिति भावः । उपमाऽऽह्वार ॥२२॥

अथैकदिक्षु नमिनामज्जिं स्तुतमाह—

तुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।

वारिष्ठ्या इव नमोः पान्तु पादनस्त्रांशवः ॥ २३ ॥

तुठन्त इति । नमताम्=साऽर्धस्त्वमचवाऽन्विष्टतया मूर्धा
पादस्पर्शो यथा स्याज्ज्यामप्यमतां वनानाम्, मूर्ध्नि=मस्तके “मूर्धा वा
मन्त्रकाऽज्जियामि” त्वमरः । तुठन्त =सम्पृच्छन्त, प्रसरन्त सन्त
इत्यर्थः । वारिष्ठ्याः=वारीणां अस्मनां श्रवा पूराद्यदिष कृतं,
तद्वत्प्रसरणमिति निर्मलीकारकारणम् इति भावः । इवेन समासे विमल-
लोपश्चेत्यनुशासनादुक्तमपि न किञ्चित्स्थेप इति बोध्यम् । “अमुष्यौ
पूर ह्रवोऽपि चे” तिहोम । निर्मलीकारकारणम्=भनिर्मलस्य धारीरक्षि
मस्तमाज्जितस्य कर्मादिभक्तमिस्त्वस्य च निर्मलस्योक्ताऽनैर्मत्याऽपाकरणेन
कृत्वा पवित्रस्य करणं निर्मलीकारस्य कारणं कारणमूला अन्वविता
वच्छेदकीभूतकारणतावच्छेदकस्यैवमात्रं यथा प्रमाणमित्यादिबोधकजन-
मुपपादनीयम् । नमोः=सहस्रम्नस्यैकविंशतीर्धरस्य अस्मिन् गर्भस्थे
प्रसादमभिरुह्य मातुरवलोकनमात्रेण शत्रवो यथा इति तदनुसारेण
पितृभ्यां भविरिति कृतानिस्त्वस्य पादनस्त्रांशवः=पादयो र्धे मस्तमन्ते
वामेक्षयो मयूखा किरणाऽक्षययूखाऽऽगममक्षिपुमिरक्षय” ।
इत्यमरः । पान्तु=रक्षन्तु । निर्मलीकरणेन कृत्वेति भावः । प्रसरन्-

क्रियासाम्यात्त्वकण्ठरवोक्तनिर्मलीकारक्रियासाम्याच्चाऽत्रोपमाऽलङ्कारः ।
अत्रोपेक्षा वर्णयन्तस्त्वलङ्कारमर्मणा दत्ताऽर्धचन्द्रा एव । उपमाप्रयोजको-
भयसामान्यक्रियायाः स्वयमेवोक्तेः । प्रकृतस्य परात्मना सम्भावन
क्षुब्धेक्षा, न तु सामान्यधर्मोक्तिपुरस्सर साम्यप्रतिपादनम् । उत्प्रेक्षा-
यामपि साम्य मूलमित्यन्यदेतत् । यथा हि मूर्ध्नि लुठद्भिर्वारिपूरैः स्नानादौ
शरीरस्य मलाऽपकर्षणेन कृत्वा निर्मलता, तथा मूर्ध्नि लुठद्भिः पादनखाशु-
मिस्तेषां पुण्यत्वात्कर्ममलाऽपकर्षणत आत्मनः शुचितेति तत्त्वम् ॥२३॥

अथ द्वाविंशमरिष्टनेमिजिन स्तुवन्नाह —

यदुवशसमुद्रेन्दुः कर्मकक्षहुताशनः ।

अरिष्टनेमिर्भगवान् भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

यदुवशेति । यदुवशसमुद्रेन्दुः = यदूना यदुनामनृपाऽपत्यानां
यो वश सन्तानः, “वंशोऽन्ववाय सन्तान” इत्यमरः । स एवाऽ-
तिमहत्त्वात्ख्यातिसलिलराशिपूर्णत्वादसङ्ख्यातपुरुषरत्नादिसम्भृतोदरत्वाच्च
समुद्र इव, तस्य तद्वर्धकत्वात्तद्ववत्वाच्च तत्सम्बन्धीन्दुश्चन्द्र इव, चन्द्र-
समुद्रोद्भव समुद्रवर्धकश्च प्रसिद्ध, तद्वदयमपि । यदुवंशवर्धको
यदुवशोद्भवश्चेत्युपमा । तथा, कर्मकक्षहुताशन = कर्माणि शुभा-
ऽशुभानि कक्षा वनानि, “कान्तार विपिन कक्ष स्यात्खण्ड कानन
वनमि”ति हैम । तस्य तन्नाशकत्वात्तत्सम्बन्धी हुताशनो वह्निरिव,
स तादृश । हुताशनो वनमिवाऽयं कर्माणि स्वीयानि चारित्रादिना
परकीयाणि च तथाविधोपदेशादिना नाशयतीति भावः । ननु
स क इत्यपेक्षायामाह—भगवान् = ऐश्वर्यादिरूपप्रशस्तमूमभगसम्पन्न,

एतेन विरोधेन स्पष्टसिद्धिसम्भावनोक्ता, भगवत् एवेष्टसिद्धिसम्पत्तिर्नि-
 बोध्यम् । अरिष्टनेमि=उदाहृतो अविश्वस्तीर्णहरः, अस्मिन् गर्भे
 मात्राऽरिष्टरक्षकपाराऽस्येकनाथवनुसारेण पितृभ्यामरिष्टनेमिरिति
 हस्तामिस्य । वः=सुभाकम्, अरिष्टनाशन=अरिष्टमाभ्यस्तिक्यऽभि-
 वैजिकाऽऽभिमानिक्युपसर्गं सवुपदेक्षादिमाऽस्तिवादिबन्धश्च नास्मदीति
 स तादृश, सर्वोपसर्गोत्सारक इत्यर्थः । “उपस्तिङ्गं स्वरिष्टं स्वादुस्मै
 उपद्रव” इति हैम । भूयात्=भवत्किंस्यासासे । एतेन अरिष्टर-
 क्षकादिनेमिबद्धिरुन्नावरिष्टनेमिरित्यन्वर्थाऽभिधेयता भवति । मान्येभ्यः
 रूपपरतया व्याख्याने तु मान्यरूपक बोध्यम् ॥ २४ ॥

अथ त्रयोविधं पार्श्वनाथमित्रं स्तुवन्नाह—

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।

प्रद्युस्तुज्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथमित्रेस्तु वः ॥ २५ ॥

कमठ इति । स्वोचितम्=सत्यं स्वस्य कमठस्य धरणेन्द्रस्य च
 यदुचितमभ्यस्तं न्याय्यं शौच्यं च तदाहृतम् स्वस्वमङ्गलकृत्यमित्यर्थः ।
 ‘अभ्यस्तेऽप्युक्तिं न्याय्यमि’त्यमरः । कर्म=व्यापारः तत्र कमठस्याऽ-
 सुरविरोधस्य परोपसर्गादिकरणाभ्यासात्तत्र प्रयत्नमकृतितया परोपसर्ग-
 करणादेरेव उदनुगुणत्वाच्च त्रयोवर्ण्यारिक्तं पार्श्वनाथमित्रोः प्रतिमास्यत्वाच्च
 सवुपदेष्टोपसर्गक्यं कुचेष्टितमित्यर्थः । धरणेन्द्रपक्षे च-तस्य देवमङ्गलि-
 तया सत्त्वमहात्म्या परोपकारकरणाभ्यासात्परदुःखविमोक्षनादि
 व्यापारस्यैव च तदनुगुणतया च पार्श्वप्रभौ कमठमिदित्येवसर्गानिबारजात्मकं
 सत्कर्म च कुर्वति=अनुविधति, कमठे=उदाहृत्याऽसुरविरोधे धरणेन्द्रे

=जिनभक्ते तदारुये नागराजविशेषे, चः समुच्चये, तेन स्वोचितं कर्म कुर्वतीत्यस्योभयत्राऽन्वयः । तुल्यमनोवृत्तिः=तुल्या मध्यस्थतयाऽप-
कारिणि द्वेषरहितोपकारिणि च रागरहिता च मनोवृत्तिर्भावोऽभिप्रायो
यस्य स तादृशः, समतामतिरित्यर्थः । वीतराग इति यावत् । इदम-
साधारणमलौकिकं च वैशिष्ट्यं यदपकारिणि न द्वेष उपकारिणि च न
राग इति भावः । विशेष्यमाह — पार्श्वनाथः=तदारुयस्त्रयोविंश-
स्तीर्थङ्करः, अस्मिन् गर्भस्थे तमस्विन्यामपि रात्रौ मात्रा पार्श्वतो गच्छतः
सर्पस्याऽवलोकनात्पितृभ्या तदनुसारेण पार्श्व इति कृताऽमित्य, प्रभुः=
स्वामी, एतेन तस्य समता नाऽशक्तस्येति मनोरथसिद्धिसम्भावना च
सूच्यते । वः=युष्माकम्, श्रिये=लक्ष्म्यै, अस्तु=भवतु । यो हि
वीतरागस्तत एव चिन्तामणिवत्प्रार्थनासिद्धिरिति तात्पर्यम् । पार्श्वनाथ-
श्रमौ प्रतिमामास्थिते तद्व्यानभङ्गाय पूर्वजन्मवैरिणा कमठदानवेनोपसर्गः
कृतः । प्रमो. परमोपासकेन नागराजेन धरणेन्द्रेण च स निवारित
इति कथामनुसन्धायैषा स्तुतिरिति बोध्यम् ॥ २५ ॥

अथ चरमजिन श्रीमहावीरस्वामिनं स्तुवन्नाह—

कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः ।

ईषद्वाष्पाद्रियोर्भद्रं श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥ २६ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित सकलाऽर्ह-
स्तोत्र समाप्तम् ॥

कृतेति । कृताऽपराधे=कृतो विहितोऽपराधो मन्तुर्विविधोप-
सर्गरूपो येन स तादृशस्तस्मिन्, अनिष्टाऽऽचरणेनाऽपराधिनि, अपि-

मिषकमो जने इत्यनन्तरं द्रष्टव्यम् । खने=सङ्ख्यसुराद्यौ जेके तिर,
 अपिनाज्जपराधिनि जने तु कनैव केसि सूच्यते । कृपामन्त्र
 तारयोः=कृपयाऽहताऽपराधेऽप्यपकारपरायणस्याऽस्य जन्तस्य सङ्ख्य-
 रस्य "इन्त । कजमस्य सद्गतिर्मनिते"ति परबु-सम्प्राप्तेच्छया मन्त्रे
 नि-स्पन्दे तारे कनीनिके ययोस्तादृश्ये, कृपयाऽबल्लोकमानस्य जे
 निष्कले मन्त्रीति आतिरिति याव । "आगोऽपरायो मन्त्रे"ति
 'तारक्यऽस्य कनीनिके"ति चाऽपर । ईपद्राप्यार्द्रयोः=कृपय
 चेतसो द्रुत्वादीपदस्य बाप्येण नेत्रबलेनाऽऽर्द्धे क्षिप्ये, तयोस्तादृश्ये,
 कल्याणपूर्णेतित्यर्थः । 'बाप्यं नेत्रबल्लेज्जयो"रित्यपर । निरोधमह-
 भीर्भारजिननक्षयोः=भीरुहितो भीरुतादृष्ट्याऽपारमहोपसर्गेऽप्य-
 क्षोभान्महावीर इति जेके ज्ञातव्याऽसौ विमल, तस्य श्रुतिविर-
 तीर्महत्स्य नेत्रे लक्ष्मिणी तयोः, मन्त्रस्य=मन्त्रस्य, तद्वद्वौ भीरी-
 जिननेत्रे सकलमन्त्रकाऽऽत्मिके इत्यर्थः । जमेदेऽपि राहो सिर इति-
 बल्लो बोध्यम् । 'अ जेयसि सिर मद्दे कल्याणं मन्त्रं शुभमि"त्यपर ।
 एतेन भीरजिनस्य निर्विघ्नकल्याणिकत्वं सूचितम्, कजमन्त्राऽपकारि-
 ष्यपि कल्याणोति बोध्यम् । मन्त्र प्राणिनि सदा कल्याणं लभन्मन्त्रमेव,
 जत एव मन्त्रस्यपरकं चेति इत्यर्थम् । जस-विमलपरिवर्द्धि शब्देन
 विहितं "सम्पतिं चक्षुषस्यो वीरोऽजनिं पावबन् सुबुधरतप-परायण
 केनाऽपि नाऽप्यभ्यास कर्तुं शक्यत ' इति परमजिन्मनुष्यव्यनमाकर्ष्य
 जताऽस्य सकलकमभ्यासान् परीक्षितुं सद्य एव महीतज्जमन्त्रीर्म
 प्रतिमासस्य जरमजिनस्य विविधं वस्त्रमुपसर्गं कर्तुं प्रथममे सङ्गमास्य-
 सुरः । तेन चाऽस्युष्ये तमेव निश्चयभ्यामसीमं सर्वलोक्य निष्कल-

श्रमःस्थगित इव जातः स सुरः स्वस्थानं गन्तुमुपक्रान्तो “हन्त !
कथमस्य सुगतिर्भविते”ति तच्चिन्तया कृपया निश्चलाभ्यामश्रुसिग्धाभ्या
भगवता ददृशे । तत्स्थितिमनुसन्धाय स्तुतिरेषा जिनस्य निष्कारण-
कारुणिकत्वसूचनाय प्रवृत्ता । एतेन स्वस्मिन्नपि प्रभोस्तादृशदृष्टिप्रार्थन
ध्वन्यते ॥ २६ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिते सकलाऽर्हस्तोत्रे
श्रीतपोगच्छाऽधिपतिगासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकाऽऽचा-
र्यवर्यश्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयजशान्तमूर्त्युर्चाचार्यवर्यश्रीविजय-
विज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविद्विगारदाचार्यवर्यश्रीविजय-
कस्तूरसूरीश्वरशिष्यपन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचिता कीर्तिकला-
ख्या व्याख्या समाप्ता ॥

॥ श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

अथ परिशिष्टपर्व प्रारिप्सुनाऽनेनैव कलिकालमर्वज्ञेन श्रीहेम-
चन्द्राचार्येण प्ररिप्सितपरिसमाप्तिकामेन विघ्नविधाताय कृत चतुःश्लोका-
त्मक श्रीवीरजिनस्तुतिरूपं मङ्गलमपीह प्रसङ्गाव्याख्यायते । तत्राऽयमाद्य-
श्लोक —

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्भुतश्रिया ।

महानन्दसरोराजमरालायाऽर्हते नमः ॥ १ ॥

श्रीमत इति । अर्हते=अर्हति पूजा सुरादिकृतामित्यर्हन्, तस्मै
तीर्थङ्कराय सुरासुरादिपूजिताय, यतश्चाऽर्हन्नत एव, अद्भुतश्रिया=अद्भुत-
याऽसाधारणयाऽलौकिकया च । असाधारणमलौकिकमेव चाऽद्भुत भव-

तीति बोध्यम् । तादस्या स्या, मिया कस्या सहजमतिशयमात्रं,
 "स्मिन्मयेऽवसुत्तमाभ्यर्पमि"त्यमरः । सनाथाय=समन्विताय, अत एव
 महानन्दसगेरात्ममराकाय=महान् छात्रनाऽऽलम्बतयाऽनस्य, कल्प
 इत्यर्थः । तादस्यो य आनन्दः सुखम्, सकलकर्मसमग्रान्यसुखमित्यर्थः,
 अत एव सरो महत्स्वपूर्णस्थानिसापन्थात्कसार "कसारः सरसी सर"
 इत्यमरः । तस्य क्ववगात्स्थपत्तम्बनी शो राजमरात्वे मरात्मनां
 राया, राजईस इत्यर्थः । राजवन्ताशिवत्तमास । तद्वपुः, क्व
 सरसि ईसेषु रायाईस 'सर्वोत्तमभीसमन्वित सर्वश्रेष्ठश्च भवति, तद्य
 भीवीरचरितोऽपि महानन्वमशेषु सर्वोत्तम सुखाऽवसुत्तभीसमन्वितः,
 यथाऽईन् स ईदृश एव भवतीति भावः । तस्मै सादृश्यम्, भीमते=सर्व-
 विषमशक्तान्मसंपत्समन्विताय मन्वप्यत्रावसुतमिहा सनाथावेत्युक्तयेव
 भीमते इत्युक्तयेव वेदार्थबोधसम्भवेऽन्तरस्य नैरर्क्यम्, त्वार्थं
 भीमव्ययोगेन नामाशुक्लेशत्वाऽऽचरत्वाण्युपादानमिति सन्तोऽहम् ।
 निशेप्यस्तह—वीरनाथाय=वीरो किनाऽपि प्रत्यये पूर्वोत्तरपदयोर्लोप-
 त्तत्वा ममेतिष्यमैकदेशेन मामग्रहवान्महावीरधारमस्तीविह्वर, स
 एव सर्वभगनुपकारकस्तथाप्यव लागीव, क्व च वरिषु केयोस्तद्भौवावै
 सहिष्णुत्वादिसखु वीरपदवाच्यत्वेन प्रसिद्धेष्वाधारजोपसर्गादिना-
 ऽपि सत्त्वाऽमप्यन्तरेतोर्नाव इन्द्र इव, महावीर इत्यर्थः । तस्मै,
 नमो=नमस्कारोऽस्तु । यो शुक्लविशेषणविशिष्ट सोऽवस्थं नमस्कर-
 णीय, तस्य सर्वभग्नस्तत् । अतुक्तम्—'महाकं मयवान् वीर'
 इति भावः ॥ १ ॥

श्रीमुखवत्त्वेन स्तुत्वा ज्ञानिमुख्यत्वेन स्तुवन्नाह—

सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।

देवाऽधिदेव सर्वज्ञं श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

सर्वेषामिति । सर्वेषाम्=सकलानाम्, न तु कतिपयानामेवेति

बोध्यम् । वेधसाम्=ज्ञानिनाम्, आद्यम्=आदौ भवस्तम्, आदौ गणनीयं कीर्तनीयं चेत्यर्थः । मुखमिवाऽङ्गेषु प्रधानत्वान्मुख्यमिति वाऽर्थः । मुख्यो ह्यादौ प्रथममेव कीर्त्यते गण्यते चेति बोध्यम् । यद्वा—

सर्वेषाम्, वेधसाम्=बहुवचनादुपलक्षणत्वाद्देवा ब्रह्मेन्द्रः, शेषाश्चेन्द्रास्तेषां पूज्यत्वादादौ भवमिव । अथवा, वेधसः=प्रजापतयस्तेषामाद्यं

प्रथमम्, ऋषभप्रभु ह्याद्यः पृथिवीनाथ, अर्हतां च सर्वेषामभेदः, यदुक्तम्—“यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया

तया । वीतदोषकलुषः स चेद्भावनेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते” इति । तथा—वेधसो विष्णवस्त्रिपृष्ठादयो वासुदेवा अर्धचक्रिणस्तेषामाद्यं

प्रथमम् । भरतपुत्रो मरीचिर्हि प्रथमस्त्रिपृष्ठाख्यो विष्णुः, मरीचिर्जीव एव च चरमोऽर्हन्निति श्रुतज्ञा । अतः श्रीवीरजिन एव वेधसामाद्यः ।

“स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा” इत्यमरः । “विष्णुर्निष्णुजनार्दनो बभ्रुशशबिन्दुवेधसः” इति हैमः । न केवलमसौ संसारिणामेवा-

ऽऽद्योऽपि त्वससारिणामपीत्याह—परमेष्ठिनाम्=परमे लोकोत्तरत्वात्सर्वोत्तमे भावे=पर्याये तिष्ठन्तीति परमेष्ठिनः । पञ्चाऽर्हत्सिद्धाचार्यो-

पाध्यायसाधवस्तेषाम्, आदिमम्=आदौ भवम्, अतिशयाद्यसाधारण-गुणविशिष्टतया निर्हेतुकपरमकारुणिकतया सर्वजगदुपकारकतया च

निमित्तमिति बोध्यम् । तस्या गङ्गायास्तत्प्रभवत्वात्तत्सम्बन्धी यो हिमाचलो हिमालयाख्यो नगाधिराजस्तद्रूपम् । यथा हि हिमवतो गङ्गा प्रभवति तथा वीगच्छुतानि, तथा यथा हिमाचलो नगाधिराजस्तथा वीरो ज्ञानीन्द्र इति रूपकेण ध्वन्यते । अत्रापि परम्परितरूपकम् । अत एव, विश्वाम्भोजरविम्=विश्व जगदेव विकास्यत्वसाधर्म्या-
दम्भोज कमल तस्य तद्विकासकत्वात्तत्सम्बन्धी रविः सूर्यस्तद्रूप, तम् । यथा रविणाऽम्भोज तथाऽनेन विश्व प्रबोध्यत इति परम्परितरूपकम् । अत एव, देवम्=देवाधिदेवम्, विनाऽपि प्रत्यय पूर्वोत्तरपदयोर्लोप इति ध्येयम् । श्रीज्ञातनन्दनम्=श्रीसमन्वितश्चाऽसौ ज्ञातस्य तथा-
ख्यातस्य ज्ञातकुलस्येक्षाकुविशेषस्य नन्दन आनन्दप्रदस्तम्, तत्रोत्पन्न-
त्वात्तदुत्कर्षकत्वाच्चेति भाव । चरमजिनेश्वरं श्रीवीरमित्यर्थ । वन्दे=
नमामि, यथा कल्याणश्रुतबोधलाभः स्यात्, तस्यैव तन्निदानभावादिति
हृदयम् ॥ ३ ॥

सम्प्रत्यन्त शुद्ध्यर्थं वचनद्वारा चरमजिन स्तौति—

पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।

भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित श्रीवीरजिनस्तोत्रं समाप्तम् ॥

पान्त्विति । भव्यानाम्=अनादिपारिणामिकभव्यत्वभाववताम्,
अभव्यमिन्नानामित्यर्थ । सेत्स्यता सम्यक्तृत्वतामिति परमार्थ । आन्त-
रमलप्रक्षालनजलोपमाः=आन्तरमन्तर्भवमात्मसम्पृक्तमित्यर्थ । तादृशं
यन्मलं विकार कर्म वा कपायादिर्वा, पक्षे शरीरसल्लिप्तरज.प्रभृतिर्कं

॥ तस्य प्रकृत्यमे परिशोधने, दूरीकरणे इति यावत् । अतः सन्ति-
 मुष्णोपमाने यासां सा साहचर्यम्, अस्मत्सम्बन्धिकर्मकषायाद्यालकम्-
 शोधने सन्निवृत्तमधीत्य इत्यर्थः । यथा अस्तेन शरीरादिसम्पृक्तमस्मत्
 शोधने त्वया त्रिनेश्वरदेशनामपनेनाऽऽन्तरमलम्प्येति गाथा । अस्तेन हि
 मलशोधनं प्रसिद्धमिति ह्यवयवम् । यद्यप्यान्तरमलेति विशेषणस्य मन्त्र
 सापेक्षत्वात्सामर्थ्यम्, तथापि देवप्रसूतस्य गुरुकुलमिस्त्रादिबद्धमपत्त्या-
 स्तमासो बोध्यम् । श्रीमद्वागीरस्वामिनः=श्रीसमन्वितो महावीरस्त
 वाङ्मन्त्रमस्तीर्णहृत् एवोपदेशादिना सन्मार्गप्रदर्शनादिना कृत्वा पाठ-
 कत्वास्त्वामीव त्वय श्रीमद्वागीरमन्त्रे, दक्षनागिर=धर्मोपदेशकचांसि,
 वा=सुप्यान् भव्यान् पान्तु=भवायाद्व्याप्तु । शरीरापनेन आन्तर
 मलमपत्त्यापत्त्यात् सर्वाप्यामपरिहार इति वा देवनागिरः पान्ति-
 त्वर्थः । तद्वचनमेव शरणं रागादिपरामृगानामिति तात्पर्यम् । अत्र
 शरीरादिमलमन्त्रान्तरमलं वाऽन्यदिति द्वयार्थेदऽप्यमेवाऽप्यस्तथा-
 वतिष्ठोक्त्यनुप्राणितोपमा ॥ ४ ॥

इति कलिकावसर्गश्रीदेवचन्द्राचार्यविरचिते श्रीरविमन्त्रे
 श्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसुब्राह्मण्ड्यगिरिप्रसूतनेत्रनीशोद्वारकाचार्यकर्म-
 श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टाब्जहारसम्पत्तशान्तमूर्त्तार्पायक्यश्रीविजयविज्ञान
 सूरीश्वरपट्टपरमिद्वान्तमदोषविपाकुलविद्विष्टारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तु-
 सूरीश्वरविष्ण्व्यासश्रीकीर्तिपन्द्रविजयगणिविरचिता कीर्तिवत्प्रख्या
 व्याख्या समाप्ता ॥

॥ प्रशस्तिः ॥

वृद्धप्रगुरु नेमि स्तीर्थोद्धाराऽऽससद्यशोनिचयः ।

शासनसम्राट् जातो भविकुलकैरवकलानाथः ॥ १ ॥

तत्पट्टालङ्कारो बहुविधविरुदावलीपात्रम् ।

विज्ञानः प्रगुरु मे समयज्ञः शान्तमूर्तिश्च ॥ २ ॥

सुगुरु मे कस्तूरः प्राकृतविद्विशारदः सूरिशः ।

नव्यभव्याऽब्जबन्धुः सिद्धान्तमहोदधिर्गीतः ॥ ३ ॥

तत्कपोपेतसुमतिः कीर्तिकला कीर्तिचन्द्रोऽहम् ।

सकलाऽर्हत्स्तोत्रस्य व्याख्या स्वाख्या समाख्यमिमाम् ॥ ४ ॥

केऽपि द्रक्ष्यन्तीमामुपेक्षयाऽहङ्कृतिच्छलिताः ।

कष्ट मनसि दहेयु र्हा ! मात्सर्यं दुरन्ततमम् ॥ ५ ॥

वराकोऽसूययाऽसौ द्विगुणितनीलाऽऽननो न वचनीयः ।

स्वकृतं सद्यो मुङ्क्ते दैवहतस्याऽपहत्याऽलम् ॥ ६ ॥

तोषमेप्यन्त्यवश्यं गुणगृह्या प्रेक्ष्य तामेताम् ।

व्याख्यासु सतीषु कतिषु सुमेषु कङ्गारमिव भृङ्गाः ॥ ७ ॥

रसशीतांशुखनयने वैक्रमवर्षे समाप्तिमाप्तेयम् ।

मौन्यामेकादश्या सकलाऽर्हद्भयोऽर्हणा भूयात् ॥ ८ ॥

नेतः कीर्तिमपेक्षे पाठकजनमनःप्रसाद तु ।

तदर्हतो भक्तानपि सद्भक्त्येह प्रपन्नोऽसि ॥ ९ ॥

इति कीर्तिकलाव्याख्यासहित श्रीसकलाऽर्हत्स्तोत्रं श्रीवीरजिनस्तोत्रं च समाप्तम् ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

श्रीमहादेवस्तोत्रम्

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषितम् ।

वीतराग महादेव करुणावरुणालयम् ।

सिद्धयेकसाधनं सद्दीप्रदं केवलिन श्रये ॥ १ ॥

तपोगच्छनिरभ्राऽभ्रभानु शासनचक्रिणम् ।

तीर्थोद्वाराऽऽप्तसत्कीर्तिं सूरिं नेमिं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

समयज्ञ विज्ञानं सूरिं शान्तमूर्तिं प्रगुरुम् ।

शिष्यप्रशिष्यसेवितचरणद्वन्द्वं नमामि जनतेढ्यम् ॥ ३ ॥

सूरीश. प्राकृतविद्विशारद. शारदेन्दुसितकीर्ति ।

कस्तूर शरण मे सिद्धान्तमहोदधिः सुगुरुः ॥ ४ ॥

पन्यासः कीर्तिचन्द्रोऽहं व्याख्यां कीर्तिकलाऽभिधाम् ।

करोमि श्रीमहादेवस्तोत्रस्यार्थविदे मुदा ॥ ५ ॥

इह हि जगति सल्ल लोकेषु धानाविधाऽऽभिव्याधायिनि
पीडितस्ततो मुक्तिमिच्छुर्विविधेषुपाथेषु प्रवर्तते । सत देवात्मन
मप्युपास्मन्तश्चै प्रतिपादित । देवाश्च बह्वोजेकस्त्र्युपपन्नकर्म
धारतम्यन्त मघ्नीर्तिता । तेषु च सर्वभेषो महादेव शिवमहेश्वरमि
ष्वै, स्यात्तमहात्म्यो गीयते मवाक्षममुपास्मते च । स च कीदृश
किं गुण इत्यत्र सम्प्रदायभेदान्महान् मतभेदः । अत एव व्यामोहो
मा भविति ओकहितेषु स्तनामघन्य कलिच्छलसर्वं भीहेमन्त-
चार्य शिवमहेश्वरमहात्वेवादिपदार्थं स्मेतुकं निरूपयितुं महादेवं
साहस्रप्रपन्नं आद्यौ शिवपदार्थनिर्वचनेन कृत्वा स्तुवन्तः—

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽऽनयप्रदम् ।

मङ्गल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाष्यते ॥ १ ॥

प्रशान्तमिति । यस्य=यस्यैव, यदेककर्मकमित्यर्थः । दर्शनम्
=अवलोकनम् प्रशान्तम्=अनुग्रहमुद्देशकं सौम्यमुपसममावेशक-
कृत्वाच्छमाश्रय, न तु तीर्षान्तरमसिद्धदेवबद्ध नेत्रगतवक्त्रादि
विकारादुपमुद्देशकमसौम्यमित्यप्रशान्तमिति भावः । तथा प्रशान्त-
त्वत्वेन च सर्वभूताऽऽनयप्रदम्=सर्वेभ्यो न तु कर्तव्येभ्य एव भूतेभ्यो
जीवेभ्योऽनय मयाऽभ्यासं पश्यति भयं न करोमीति सत्तादृशम्, न तु
देवान्तरवच्छात्रितानिष्पात्त्रेपाद्याविष्टत्वास्तद्वैविधायादेव कदापि
कृत्वाऽपि भयपदम् । दायादिमते ऽपि जना विष्मयीति भावः ।
अत एव मङ्गल्यम्=मङ्गलविषये साधु, महालाभमित्यर्थः । न
तु देवान्तरवद् भूतगगादिसहस्रात्पात्तमुण्डमाकारिस्मन्विस्तार

मङ्गल्यमिति भावः । एतेन दर्शनस्य मङ्गलात्मत्वं सूचितम् । स्वयम-
मङ्गलस्य मङ्गलहेतुत्वाऽयोगादिति बोध्यम् । अत एव, प्रशस्तम्=
वर्णनीयमदुष्टमिष्टं च, न तु दिगम्बरादिभावाज्जुगुप्सादिकरत्वादप्रशस्त-
मिति भावः । एतेन दर्शनस्याऽवश्यकरणीयत्व सूच्यते । यद्वच-
प्रशस्त दर्शन न तत्कस्याऽपि करणीयमिति बोध्यम् । चद्वयं सर्व-
विशेषणसमुच्चये, तेन चैकैकमात्रस्याऽपर्याप्तत्व सूच्यते, एतेषां गुणानां
समुदितानामेव शिवत्वप्रयोजकत्वमित्याशयाऽवगमादिति ध्येयम् । अथ च,
यस्य=यदीयम्, यदुपज्ञमित्यर्थः । दर्शनम्=पदार्थयाथात्म्यज्ञानाऽभ्यु-
दयनि श्रेयससिद्ध्युपायभूतमार्गः, स्याद्वादरूप सिद्धान्त इति गूढा-
कृतम् । प्रशान्तम्=उपशमप्रतिपादकत्वात्कार्ये कारणोपचाराच्छान्ति-
प्रदमित्यर्थः । न तु दर्शनान्तरवद् हिंसासाध्यविध्याद्युपदेशकत्वाद-
प्रशान्तमिति भावः । तथा, सर्वभूताऽभयप्रदम्=सर्वभूताऽभय प्रददाति
दयाऽहिंसादीनां विधेयतया प्रतिपादनेन कृत्वा प्रयोजयतीति तत्तादृशम्,
सर्वभूताभयोपदेशकमित्यर्थः । न तु देवान्तरोपज्ञदर्शनान्तरवदभिचारादि-
प्रतिपादनेन कृत्वा भयप्रदमिति भावः । अत एव, मङ्गल्यम्=
सम्यग्ज्ञानादिमङ्गलप्रयोजकत्वान्मङ्गलप्रयोजकम्, “नन्दी मङ्गलमि”त्यु-
क्तेरिति बोध्यम् । अत एव चैतद्दर्शनमपि मङ्गलमिति सूच्यते । तत
एव च, प्रशस्तम्=दर्शनश्रेष्ठम्, वस्तुयाथात्म्यप्रतिपादकत्वात्सन्मार्ग-
प्रदर्शकत्वाच्चेति भावः । यदुक्तम् “प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति
शासनमि”ति । एतेनाऽस्याऽवश्योपादेयत्वं ध्वन्यते । अप्रशस्तप्रशस्तत्व-
योर्हेयोपादेयत्वप्रयोजकत्वादिति बोध्यम् । तेन=उक्तगुणमहिम्ना, स
इति यच्छब्दवलालभ्यते । शिवः=शिव कल्याणमस्त्यस्येति स तादृशः,

शिवपदवाच्य इत्यर्थः । विधाप्यते=श्रमते, विचार्यते वा । ईदृ-
 रितिशेषः । यो हि शुभकारकः शुभगुणाभयस्य तस्मिन् शिवपदवाच्यः
 परमार्थः । यस्य हि वर्धनमाहृत्यादिवैशुभ्यारम्भे हिंसाविसाधनितु-
 पदेशकत्वाद्येवमुद्वेगकरमसौम्यमत एव मयप्रवमत एवाऽऽहृत्यमस्त-
 न्, स चेच्छिष्टकृतार्थेण को नाम विभाव्यतः । । अतः वर्धन-
 कर्तुमुत्प्रेतेन लोकसामान्यकृत्यं लोकसामान्योपादेयत्वं च ज्ञानते ।
 जनीह्यं तु वर्धनं न करणीयं नैवोपादेयमप्यद्विक्त्वादिन्यवेकम् ।
 तीर्थाऽन्तरे धूमो भीमोऽन्वित्रातो नमो मृतसस्यो मुष्ण्यन्तर्दिनिमूले
 हिंसाविसाध्यस्यादिविधिप्रधानवर्धनाद्युपदेशको निमहाऽनुग्रहप्र-
 दत्तादिसहितस्य शिवो वर्धते । स च महीव शिवः । शिववर्त-
 त्वारस्तस्य तद्वर्धनस्य न शिवमिति वस्तुतः सोऽशिव एवेति गूढ-
 कृतम् ॥ १ ॥

अथ निरुक्तिपूर्वकं तमेव शिवं महाेश्वरत्वेन स्मृति—

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महाेश्वरतां गतः ।

रागाद्रेपविनिमुक्तं बन्धेऽहं स महाेश्वरम् ॥ २ ॥

महत्त्वादिनि । यः=यावन्तो देवः, उक्तप्रकारः शिव इत्यर्थः
 सन्नि । महत्त्वात्=मह्यते पूज्यते साक्षात्नितरसाधारणाऽऽद्यौक्ति-
 सह्यापनिसम्पत्तुद्धिमत्त्वात्तौकीरिति गद्धान्, यद्यप्यद्वितिरुक्तमोचन-
 पुरुषः यदुक्तम् नित्यं स उक्तमेव्याऽप्युक्तम् इति पूज्यतम एवे'ति ।
 ईश्वरत्वात्=ईष्टं वस्तुसम्पत्तुद्धिमत्त्वमोचनमार्गादिकमनुष्ठानं साक्षा-
 नित्येवंतीह ईश्वरः, सर्वैर्भयसम्पन्नः, तस्य भावप्रसादः, यः समुच्चये ।

महत्त्वेश्वरत्वोभययोगादिति हृदयम् । महेश्वरताम्=महाश्चाऽसावी-
श्वरश्च, तस्य भावस्तत्ता देवाधिदेवत्वमित्यर्थः । गतः=प्राप्तः, न तु
नाममात्रेण भक्तै श्रद्धादिना महत्त्वाद्यभावेऽपि तथाख्यात इति भावः ।
उक्तगुणसम्पत्तौ हेतुगर्भं विशेषणमाह—रागद्वेषविनिर्मुक्तम्=रागो
विषयासक्तिर्द्वेषोऽनिष्टेऽप्रीतिरुपलक्षणत्वात्कषायादयश्च, तैविनिर्मुक्तम-
सम्पृक्तम् । तथाविधज्ञानचारित्रादिना रागादिमूलकर्मणः साकल्येन
क्षयात्कारणाऽभावात्कार्यस्य सुतरामभावाद्धीतरागमित्यर्थः । वीतराग
एव महानीश्वरश्चेति स एव महेश्वरः । अनीदृशस्तु रागादिपरतन्त्रतया
न महान्नवेश्वर इति भावः । अत एव, तम्=तादृशं महत्त्वादीश्वरत्वाच्च
महेश्वरता गत वीतरागम्, महेश्वरम्=महेश्वरेत्यन्वर्थसजासजिनम्,
देवाऽधिदेवमित्यर्थः । अहम्=भक्तिश्रद्धासमन्वितो विवेकी स्तोता,
वन्दे=नमामि । स्वात्मोत्कर्षार्थमित्यात्मनेपदेन सूच्यते । यस्त्वनीदृशो
दारपरिग्रहाऽसुरहननादिना रागद्वेषपरतन्त्रः, अत एवाऽमहाननीश्वरश्च,
स न वन्दनीयो विवेकिभिरिति हृदयम् ॥ २ ॥

ज्ञानादिविशेषवैशिष्ट्यादेव देवस्य महत्त्वमित्याह—

महाज्ञानं भवेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।

महादया-दम-ध्यान महादेवः स उच्यते ॥ ३ ॥

महाज्ञानमिति । यस्य=यादृशस्य देवस्य, लोकालोक-
प्रकाशकम्=लोकस्य लोकवर्तित्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायात्मकपदार्थसार्थस्य,
तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति बोध्यम् । अलोकस्य च प्रकाशक परिच्छे-
दकम्, अत एव, महाज्ञानम्=महत्सर्वपदार्थविषयत्वादनन्तत्वाच्छुद्ध-

त्वाच्च सर्वश्रेष्ठं कञ्चानं सत्, केनञ्चानमित्यर्थः । शान्तान्तरं तु श्री-
 मुक्तादिकमल्पविषयमिति न सम्मद्वदिति बोध्यम् । भवेत्=त्यस्य ।
 य सर्वस्वार्थसार्थपरिच्छेदककेवञ्चानवानिति सारार्थः । उवा, महा-
 दयादमध्यानम्=महत्पत् सर्वश्रीवनिषमत्वाविष्कारणत्वाच्च सर्वोक्त्य-
 दया, सा च सर्वेन्द्रियविषयत्वाद्धिवेकसम्प्राप्तत्वाच्चाऽनस्योऽसाधारण्य-
 दमः ॥ च शुभात्मकत्वानिर्विकल्पस्वत्वाच्च सर्वोत्तमे यद्विधानं समाप्ति-
 तेषां समाहारो दयादमध्यानम्, कस्येति भवेदिति च सम्बन्धते ।
 दया=परतु-सम्प्राप्तेच्छा, वम इन्द्रियमिन्द्र, ध्यानं च शुद्धभावनिति
 ध्येयम् । यदुक्तम् “सर्वात्मसु कृपाऽव्युत्तरे”ति, “सक्तानि च
 चाऽऽशानि नैवेच्छुः कृत्तानि च । इति सम्यक्प्रतिष्ठा तस्येन्द्रियवत्त्वं
 हृत” इति ‘ ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं प्रसमेकात्मतां गतमि ”ति च ।
 सा=व्यवहारी महाज्ञानदयादमध्यानपत् देव एव । सर्वं वाक्यं साक-
 षाणमिति न्यायादेवाऽर्थो सम्मते । तेन चाऽऽप्यज्ञानदयादमध्यान-
 व्यवहारेण । महादेव=महादेवपदप्रतिपाद्य, उच्यते=कथ्यते ।
 महादेवपदेन स एव गीयते इत्यर्थः । न तु वीर्यान्तरमसिद्धो महा-
 देवोऽप्यज्ञा मुक्तिमार्गाण्युपदेशानिर्वयोऽनुरादिहमन्मद्वरदितो वार-
 परिष्कारादेर्दुष्मानो द्वेषिभ्युनिषु कोपादिमत्त्वादिति भावः ॥ २ ॥

अयेन्द्रियमयद्वारा देवस्य पुनर्महत्त्वमाह—

महास्तुतस्तस्करा ये तु तिष्ठन्सः साक्षरीरके ।

निर्मिता येन देवेन महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

महान्त इति । स्वशरीरके=स्व निज यच्छरीरम्, स्वार्थे क० ।
तस्मिन्, निजदेहे, तिष्ठन्तः=वर्तमाना, ये=यत्प्रकारा, तुरेवाऽर्थे
भिन्नक्रम स इत्यनेन सम्बध्यते । महान्तः=धनधान्याद्यपहारक-
तस्कराऽपेक्षया बलवन्तो दुर्निर्माह्या आत्मसम्पदा सम्यग्दर्शनादीनां
पश्यतोहराः, तस्कराः=चौरा, इन्द्रियाणि मनोवच काययोगरूप
आप्तवो वा । तानि हि बलाद्विषयेषु प्रवर्तयन्ति सदृशनादीनि मुष्ण-
न्तीति बोध्यम् । “चौरस्तु प्रतिरोधकः । दस्यु पाटच्चर स्तेनस्तस्करः
पारिपन्थिक” इति हैम । अन्ये हि तस्करा परोक्ष एव बाह्य
धनमेव च मुष्णन्ति, इन्द्रियाण्याप्तवाश्च शरीरे कृतस्थितय एव बला-
त्तात्मसर्वस्वं दर्शनादिकमपहरन्तीति तानि महान्तस्तस्करा इति हृदयम् ।
ते इति यच्छब्दबलालभ्यते । येन=यत्प्रकारेणाऽनन्तज्ञानादिमता
सवरसंवृततेन, देवेन=देवपदवाच्येन, निर्जिताः=वशीकृता निगृहीता
वा । यो देवो जितेन्द्रिय सवरसंवृतश्चेति निष्कृष्टोऽर्थः, न तु दार-
पग्रिहादिनिरतः शत्रुवधादिकदारम्भवाश्चेति हृदयम् । यदुक्तम्—
“सयतानि न चाऽक्षाणि नैवोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यक्प्रतिपदा
त्वयेन्द्रियजय-कृत” इति, “मनोवच कायचेष्टा कष्टा सहस्य
सर्वथा । श्लथत्वेनैव भवता मनःशल्य वियोजितमि”ति च । स तु=
स एव, महादेव उच्यते । बाह्यतस्करजयवदान्तरतस्करजयो येन
विहित स महादेव । बाह्यतस्करजये तु देवमात्रम् । अन्येषामपि
तादृशत्वान्महत्त्वे बीजाऽभावात् । ततश्चाऽन्यादृशोऽजितेन्द्रियो हिंसा-
चारम्भवाश्च देव परतीर्थिकप्रसिद्धो महादेव सामान्यदेवसदृश एवेति
न केवलं महत्त्वमपि तु देवत्वमपि तस्याऽतिबहुव्याकृतम् ॥ ४ ॥

सम्पत्तिं वीतरागत्वेन महादेवत्वमाह—

रागद्वेषौ महामहौ दुर्जयौ येन निर्जितौ ।

महादेवं तु स मन्ये शेषा वै नामधारकाः ॥ ५ ॥

रागद्वेषाविति । येन=यत्प्रकारेण देवेन, महामहौ=भगवन्
पराऽपेक्षया देहकर्मविषैस्त्रिषष्ट्यात्सर्वाधिकौ यौ महौ लोके सर्वे
स्मृतौ व्याप्यामात्रिणा शारीरिकविस्मिष्टशक्तिसम्पन्नौ दृढाङ्गौ, कञ्चन
स्यविष, अनादिकसम्पन्नत्वेनाऽतिदृढत्वादिति बोध्यम् । अत एव
दुर्जयौ=तु तेन जीयेते इति तादृशौ कष्टसाध्यनिग्रहौ महामहौ हि न
सुक्तरतया जेतव्यं कस्याऽपि, महत्त्वस्याऽन्यथाऽनिर्वाहत् । एवं
महामहोऽज्येयो मक्तु मा वा दुर्जयस्तु भवत्येवेति भावः । रागद्वेषौ=
रागो विषयेष्वातरो द्वेषोऽग्निद्वेषीति तादृशौ तौ, मत्ता अपि हि कथं
रागद्वेषबोरोपीनास्त्येर्महामहत्त्वमुचितमेवेति ध्येयम् । निर्जितौ=
निगृहीतौ त्यक्तमित्यर्थः, विनाशिताविति यावत् । रागद्वेषीनां निग्रहस्य
त्वागम्य नाशस्य चाऽनाशान्तरतेति बोध्यम् । तुरेवाऽर्धे निमग्नस्य
निमग्नान्तरं व्रज्यम् । तथा च, स तु=तमेव, तादृशं महामहारागद्वेष
जितारं देवमेवेत्यर्थः । महादेवम्=महादेवपदाऽभिधेयम्, मन्ये=
स्वीकरोमि । महामहजतुर्महादेवस्य सहोक्तुर्गन्धर्वस्तदेव स्वीकारार्थं
मिति हृदयम् । मनु तत्तत्पीथेषु बहवो महादेवा प्रसिद्धा, न च ते
सर्वे मिथारागद्वेषाः परिमहादिना रागादिसद्भावाऽवगमात्, तत्तद्भेदस्य
महादेवत्व तेषां कश्चित्ति चेत्तथाह—शेषाः=रागादिनेतुरन्ये महा-
देवपदसम्बोध्या ये=निगम्यतः, नामधारकाः=महादेवेति नामैव

धारयन्ति, न तु तत्र महादेवपदार्थोऽपि घटते । एवञ्च ते रूढयैव
महादेवा न तु योगत इति वस्तुतस्ते न महादेवा । नामनिक्षेपविषय-
ताया यादृच्छिकत्वात्तादृशमहादेवादिष्टाऽसिद्धे । अर्थक्रियाकारित्वा-
द्भावतो महादेव एव महादेव । किञ्चाऽन्यैर्दुर्जय यो जयति स एवेत-
राऽपेक्षयोत्कृष्टगुणवैशिष्ट्यान्महत्त्वास्पदम् । यदुक्तम्—“ अरक्तो भुक्त-
वान्मुक्तिमद्विष्टो हतवान् द्विषः । अहो महात्मना कोऽपि महिमा लोक-
दुर्लभ ” इति । रागादिपरतन्त्राणां देवानां रागादिजेता महानिति
वीतराग एव भावतो महादेवो नाऽन्ये । यद्वक्ष्यत्यनुपदमेव—“शब्दतो
गुणतश्चैवार्थतोऽपि जिनशासन ” इति भावः ॥ ५ ॥

ननु नामभावमहादेवयोः कतरस्तवेष्ट इति चेत्तत्राऽऽह—

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकानां मते मतः ।

शब्दतो गुणतश्चैवार्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

शब्दमात्र इति । लौकिकानाम्=लोका एव लौकिकास्तेषाम्,
साधारणजनानां वस्तुतत्त्वग्रहणाऽपटूनामित्यर्थः । लौकिकमर्थं बह्वं
मन्यमानानामिति यावत् । मते=सिद्धान्ते, शासने इत्यर्थः । स्वर्गादि-
मात्रसाधनहिंसादिसाध्ययजादिप्रतिपादके शास्त्रे इति हृदयम् । मतः=
इष्ट प्रतिपादितश्च, महादेवः=महादेवाऽभिधो देव, शब्दमात्रः=
शब्द एव, शब्दत एवेत्यर्थः । न तु तत्र महादेवपदार्थो महादेवगुणो
वा, रागादिसत्त्वान्महत्त्वाऽभावात् । यदुक्तम्—“ स्पृहावन्तो विलो-
क्यन्ते लघुवस्तृणतूलवत् । महाश्चर्यं तथाप्येते मज्जन्ति भववारिधावि ” ति
“ तूल तृणादपि लघु तूलादपि हि याचकः । वायुना किं न नीतो-

ऽमौ मामभे प्रार्थयिष्यतीति च । एवञ्च यन्महत्त्वाऽभावेऽपि महादेव उच्यतेऽनो नामनिशेषविषय एवेति शब्दमात्र एव, न तु भावनिशेष विषयत्वाद्भास्त इति तात्पर्यम् । ननु तर्हि महादेवः कः पारमार्थिको मत इति चेत्तत्राह—जिनशासने=अस्ति रागादीनि विनस्तत्तत्तदुपश्रुत्वापस्मन्निनि शासने शास्त्रे नैनपवचन इत्यर्थः । शब्दतः=महादेवपदबोध्यत्वाच्छब्देन कृत्वा, सार्वभिमक्तिश्चतस्रः । गुप्तता=ज्ञानेन्द्रियव्यवहारमगच्छादिभिर्गुणैः कृत्वा, चैवेति समुच्चये । अत एव अर्थतः=महादेवऽसौ देवभेदसर्वसद्भावेन कृत्वा अपि=समुच्चये । एवञ्च जिनशासनमतो महादेव एव भावनिशेषविषयत्वाद्भास्तवो महादेव इति कैवलिमतोऽपेक्षया परमावतो वस्तुमाहिरकैश्चिद्व्याप्तोकोचरं जिनशासनमिति ध्वन्यते । एवञ्चाऽन्यतीर्थसम्मतो महादेवो महादेव गुप्तस्य महादेवपदार्थस्य चाऽन्यत्वात् स इष्टः किन्तु जिनशासनसम्मत एवेति तु एवाऽऽशङ्कनीय इति भावः ॥ ६ ॥

अमुक्तं गुप्तोऽर्थस्येति उच्येव कतिमि कोऽर्थे विस्तदयति —

शक्तितो व्यक्तित्वेन विज्ञानाल्लक्षणतया ।

मोहबालं हतं येन महादेव स उच्यते ॥ ७ ॥

शक्ति इति । येन=बाह्येन देवेन, मोहबालम्=मोहो

ऽस्य स्वबुद्धिः अमुक्तम्—‘अनित्यमनदेहादौ नित्यत्वेन ममेति च । अज्ञानेनाऽऽकृता बुद्धिमोह इत्यभिधीयते इति । स एव संसारे बालमनिकलणसाधनमिति भाव्यम् मोहस्य बालं परम्परा वा इतम्=विनाशितम् येन मोहस्थक्त इति सारार्थः । सः=अज्ञो देवः,

शक्तितः=निजात्मवीर्यविशेषतः, वीतरागस्य क्षायिकाऽनन्तवीर्यवत्त्वा-
दिति भावः । व्यक्तितः=सहजाद्यतिगयविशिष्टतया स्वीयेतरविलक्षणा-
ऽसंघारणाऽलौकिकव्यक्तित्वमपेक्ष्य, चैवेति समुच्चये । विज्ञानात्=
विशिष्ट सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वादनन्तत्वादिशुद्धत्वाच्चेतराऽपेक्षयोत्कृष्ट
यज्ज्ञान तस्मात्, केवलज्ञानाद्धेतोरित्यर्थः । तथा=पुनः, लक्षणात्=
सुरासुरनमस्यत्वादिरागद्वेषजयादिरूपमहादेवलक्षणस्योक्तस्य वक्ष्यमाणस्य
च सद्भावाद्धेतोश्च, सः=तादृशो मोहजालहन्ता देव, महादेव
उच्यते । यो वीतमोहोऽनन्तवीर्य सातिशयव्यक्तिर्विज्ञानवान्, अत
एव महादेवलक्षणोपेतश्च स महादेव उच्यते, इतरस्तु शब्दमात्र इति
सार्थः । यद्वा येन विज्ञानात्स्वीयविशिष्टज्ञानबलाच्छक्तितो निजात्म-
वीर्यविशेषबलाच्च मोहजालं व्यक्तितो व्यक्त्या, प्रत्येक व्यक्ति यथास्या-
त्तथा, अय मोहोऽय मोह इत्येवं प्रतिव्यक्ति शृङ्गग्राहिकया गृहीत्वे-
त्यर्थः । मोहसमूहसम्बन्धिन्य सर्वा एव व्यक्तय इति यावत् । हतम्, स
लक्षणात्सकलमोहहन्तृत्वरूपाऽसाधारणधर्मात्मकलक्षणहेतोर्महादेव उच्यत
इत्यर्थः । न तु तीर्थान्तरीयदेवद्वार्यावियोगादिना क्षणं विरक्तः,
स्वभार्यायां पार्वत्यां दक्षयज्ञे मृताया महादेवो विरक्तस्तपस्तेपे, पुनश्च
दारपरिग्रहः कृत इति पौराणिका इत्यनुसन्धेयम् ॥ ७ ॥

इदानीं मदलोभजयाख्यगुणेन स्तुवन्नाह—

नमोऽस्तु ते महादेव ! महामदविवर्जित !

महालोभविनिर्मुक्त ! महागुणसमन्वित ! ॥ ८ ॥

मम इति । महामदविबर्जित ! = मयै शानाद्युत्कर्षाऽस्मिन्मन-
 अनितौदत्यैर्विबर्जितो रहित महान् शानाद्युत्कर्षादिरूपमदकारण
 साकस्येऽपि साकस्येन तद्वद्वित्वात्सर्वाधिकभ्याऽसौ मदविबर्जितश्च
 स तादृशः, यद्वा महान् अन्यथापेक्षयाऽत्यधिको यो मयस्तेन विबर्जितः,
 तत्सम्बोधने, यो महता मदेन विबर्जित सोऽस्येनाऽपि तेन विबर्जितो
 मयस्येवेति सर्वविषयमदविबर्जितत्वात्सर्वाधिको मदविबर्जितः स एवेति
 निर्मदभेद इत्यर्थः । देवान्तरं तु इमं शानादिनिवासान्नुत्पाद्यमिनिवेता-
 द्ब्रह्मण्यस्मिन्मनेन हिंसादिमहापत्याच्च मत्तर्ता माऽस्तिकमस्तीति न स
 महादेव इति हृदयम् । “चित्तोत्प्रेक सखे मदः” इत्यमरः । तथा,
 महालोमविनिर्मुक्तः ! = लोमः परस्करणेच्छा, तेन निर्निर्मुक्तो रहितः,
 निर्लोम इत्यर्थः । निष्परिमहत्त्वादिति भावः । महान् साकस्येन लोम
 रहितत्वात्सर्वभेदो लोमविनिर्मुक्तः, यद्वा महद्भिर्देवोपादेयकृत्याऽकृ-
 त्यादिविवेकमरिहारेण महारम्भादिमन्त्रोक्तत्वात्सुक्तद्वैर्लोमैर्विनिर्मुक्तः,
 तत्सम्बोधने । महता लोमेन रहितोऽस्येमाऽपि तेन रहितो मयस्येवेति
 सर्वविषयमरहित इत्यर्थः । ॥ तु देवान्तरबद्धम्यपूनादिना प्रसम्मान-
 त्यादिनाऽनुमेयलोमगन्ध इति हृदयम् । अत एव, महागुणसमन्वितः ! =
 महद्विरत्नैरमाप्यैर्निर्मदत्वनिर्लोमत्वादिभिस्तथा सर्वमूत्रोपकारितादिभिः
 सर्वोत्कृष्टविशुद्धशानादिभिश्च गुणै रैश्वर्यैः समन्वितः सहितः, यद्वा
 महान् निर्मदत्वादिभिस्सर्वकारैर्गुणैः कृत्वा सर्वोत्तमभ्याऽसौ गुणसम-
 न्वितश्च स तत्सम्बोधने । गुणिभेदेत्यर्थः । अत एव च महादेव !
 = महान् देवान्तराऽपश्यमाऽधिकगुणत्वात्सर्वभेदभ्याऽसौ देवश्च, तत्सम्बो-
 धनः । वा इति महादिरहितो गुणस्यश्च ॥ महादेवः, अन्यथा तु सर्वो

महादेव एव स्यादिति हृदयम् । ते=तुभ्यमेव तादृशाऽनुत्तमविशेषण-
विशिष्टाय, न त्वनीदृशाय, सर्वं वाक्य सावधारणमिति न्यायादिति
बोध्यम् । नमः=नमस्कारोऽस्तु, ममेतिशेष । मदादिराहित्याय
गुणलाभाय च तादृशो महादेव एव नमस्करणीय उत्कृष्टत्वान्नाऽन्यादृशो-
ऽपकृष्टत्वादात्महितेच्छुभिरिति तीर्थान्तरप्रसिद्धो महादेवो न केवलं
शब्दमात्रोऽपि तु नमस्कारमपि नार्हतीत्याकूनम् ॥ ८ ॥

सम्प्रति पुना रागाद्यभावान्महादेवत्वमाह—

महागगो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च ।

कषायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥

महाराग इति । येन=यत्प्रकारेण देवेन भुवनाऽद्भुताऽतिशय-
शालिना, महारागः=महान् गुरुतरो दुष्परिहरत्वादृढतरश्चिरसह-
चरत्वाद्वर्गीकृतजीवमात्रत्वाच्च दुर्जयश्च यो रागो विषयाऽनुरागो विषया-
ऽऽसक्तिर्विषयेषु प्रीतिर्वा स तादृश, “रागोऽनुरागोऽनुरति”रिति
हैमः । महाद्वेषः=महान् गुरुतरो दृढतरो दुर्जयश्च यो द्वेषोऽनिष्टेष्व-
प्रीतिः स तादृश, तथैव चेति समुदाय समुच्चये । महामोहः=
महान् गुरुतरो दृढतरो दुर्जयश्च यो मोहोऽस्वे स्वबुद्धिः, स तादृशः,
कषायः=क्रोधमानमायालोभात्मकाऽऽत्माऽशुभपरिणाम, चः समुच्चये ।
हतः=विनाशित, त्यक्त इत्यर्थः । रागादीना हि त्याग एव नाश
इति बोध्यम् । न तु देवान्तरवन्निग्रहानुग्रहपरिग्रहादिनाऽनुमितरागादि-
मानित्याकृतम् । परे देवा रागादीनपि हन्तुमप्रभवोऽयं तु महारागा-
दीनपि हन्तीत्यत एव, सः=तादृशमहारागादिहननसाधनाऽसाधारणा-
ऽलौकिकाऽऽत्मवीर्यसम्पन्न, महादेव उच्यते । देवाऽन्तराऽसाध्य-

महारागादिहननावस्यैवोचितं महात्मम् । णनीहस्तु दवा देवान्तर-
साधारण इति श्रुत्वा मात्रं च इति हृदयम् ॥ ९ ॥

सम्पत्तिं महाव्रतोपदेशादिना महादेवत्वमाह—

महाकामो हतो येन महामयविर्पाजितः ।

महाव्रतोपदेशी च महादेवः स उच्यते ॥ १० ॥

महाकाम इति । येन=यत्प्रकारेण देवेन, महाकामः=महान्
अस्मीक्यमिति वस्तुन्युक्ततया गुस्तर उक्तप्रकारेण हृदरो दुर्गम
मः कामो भोगोपभोगेच्छा च तादृशः सर्वप्रकारश्च काम, इति=
क्षमाभरणेन विनाशितः, यो महान्तं कामं हन्ति सोऽस्य हन्तीति
किन्तु वक्तव्यमिति सर्वविधकामहन्तेति यावत् । न तु परतीर्थिकमसिद्ध
महादेवत्वकामं वगणाऽपि पुनस्तद्वन्नगोऽस्यकामहन्तेति भावः । न्तु
मिष्कामोऽपि देवान्तरवर्जिर्मयो न भवेदिति चेत्तत्राह—महामयवि-
र्पाजितः=महान् गुस्तरप्रकारण्यस्तत्त्वाद्बुर्निवारत्वादनस्य बल्यं स
मयमित्यर्थः । तदेव महद्गमं वृत्त्युच्छेदत्वात्, अन्यथाहं चैराऽविद्विष
दादिर्मयं तु कथञ्चित्त्वन्मैरप्युच्छेदमित्यल्पमेव, तेन विवर्जितो रहितः,
क्षीणाऽशेषकर्मत्वात् सर्वथा निर्मय इति हृदयम् । महामपरहितस्व दि
न्यऽस्य मयमपीति बोध्यम् । अत एव देवान्तराद्वैशिष्ट्यम् तस्य हि
भक्त्याऽनुच्छेदात् कथमन्यथा स्वार्थिकाररक्षार्थमसुरादिनिग्रहमयास
पुराणप्रदी वर्जित इति भावः । शोफोपधराऽपेक्षयाऽपि तस्य महत्त्व
मपेक्षितमित्याह—महाव्रतोपदेशी=मास्तरौच्छमुपपादिकप्रत्यक्षा-
स्तर्ज्जवर्धं मद्रूपमहिंसासत्याऽस्तेयव्रताऽपरिमहापातकं पारिवं तदुप

दिशतीत्येवशील , तादृशव्रतस्योपदेशोऽस्त्यस्य विधेयतया प्रतिपाद्यतया च वा स, च समुच्चये । न तु बालतपोहिंसादिसाध्ययज्ञादिरूप-
निकृष्टव्रतोपदेशीति भाव । स महादेव उच्यते । यस्त्वल्पकामहन्ता
दारपरिग्रहादिना कामाधीनो वा भवमग्रतया भवभीतोऽल्पव्रतोपदेशी
च शासनान्तरे प्रसिद्धस्तस्य तु देवत्वमप्यतिबहु, तस्मात्स महादेवः
शब्दमात्र एवेति तात्पर्यम् ॥ १० ॥

अथ क्रोधादिजेतृत्वेन महादेवत्वमाह —

महाक्रोधो महासानो महामाया महामदः ।

महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥

महाक्रोध इति । येन=यत्प्रकारेण देवेन, महाक्रोधः=महा-
नलुत्कटो हिंसादिप्रवृत्तिप्रयोजकतयाऽतिचिरस्थायिनयाऽनल्पश्च य क्रोधो
विविधाऽनिष्टप्रयोजकतया स्वसजातीयेषु गुरुतरः कोप, तथा, महा-
मानः=महान् गुर्वादिष्वप्यवज्ञाप्रयोजकत्वादतिमात्रो यो मानो मम
जात्यादिक सर्वाऽधिक नाऽन्य कोऽपि मादृश इत्येव जातिकुलैश्वर्य-
विद्याद्यभिमान, स । “गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिरि”-
त्यमर । तथा, महामाया=मइती परैर्दुर्ज्ञेयत्वादूदुष्पारा या माया
शाठ्य मिथ्याव्यापारेण परवञ्चनादिरूप सा । “माया तु शठता
शाठ्यमि”ति हैम । महामदः=महान् अविनयादिप्रयोजकत्वादुस्तरो
यो मदो बलैश्वर्याद्यधिक्यमावनाजनितचित्तोद्रेक, स । अत्यधिक-
मौद्धत्यमित्यर्थ । “चित्तोद्रेक स्मयो मद” इत्यमरः । तथा महालोभः
=महान् स्वल्पेऽपि वस्तुनि महाजनादियाच्चादिप्रयोजकत्वादतिलघुत्व-

सम्पादकत्वाद्दुःखान्निमात्रम् यो कोम परस्वप्नहणेच्छा, स । सर्वत्र
 क्षोषादौ महत्त्वविशेषणाद्यस्य दुर्बलत्वमन्यैरस्यसत्त्वैर्बल्यते । इति=
 किनाशित, परिहृत इत्यर्थः । महाभावेत्मनेन त्वस्य इति किं
 विपरिणामेनाऽन्यो बोध्यः । निष्कषायो निर्मलश्च यो देव इति
 सार्ग्यः । ॥ महादेव उच्यते । स तत्सुरादिहनापुमीतमहाम्येष
 सम्पन्नोऽहमेव सर्वमहानिति भाषनया म्हात्मानो रूपपरिवर्तनादिना
 परब्रह्मकृत्ताण्डवादिप्रसक्तत्वात्तन्महामयं पृथोपहारादिप्रहणविनाऽनुमिति
 म्हात्मेन पुराणादौ तथास्वेनोपवर्जितं परेष्टो देवः । तथा क्रोधादि
 रसि परस्य दुर्बल, यस्य तु महाक्रोधादिरसि सुबल, सोऽस्त्ये
 म्हादेव स एव च महादेवः । येन च महाक्रोधादिर्हन्तस्त्व क्रोधादि
 हन्तं क्रियदिति सर्वथा सर्वथा च क्रोधादिरहितस्याऽपि नद्यासनेष्टो देव
 एव महादेवोऽन्यस्तु सत्यमात्र इति भावः ॥ ११ ॥

मन्त्ररान्तरेणाऽपि त्रिमत्स्यैव महादेवत्वमित्याह—

महानन्ददये यस्य महाप्रानी महातपाः ।

महायोगी महामौनी महादेवः स उच्यते ॥ १२ ॥

महानन्देति । यस्य=बाह्यात्म्यं देवस्य, महानन्ददय=
 क्षाधनाऽभ्यासनिष्पादिनिर्विकल्पकस्वात्मवर्षाधिकोऽनन्तो वा सर्वभेदश्च, तथा
 महती निष्कारणत्वात्सर्वभूतत्रिपञ्चादत्तैरिहो साराऽपि यः स ते
 च ज्ञानन्दं गुप्तं दयाऽऽर्ज्याजच्छा च स च महानन्ददये, तथा स
 इत्यर्थश्चाऽन्यथेति । महानन्दा दया ध्येति वनिषात् । तथा सति
 महानन्दा दया स । दया च ध्येत्यर्थः । यन्म मनःपादयया भवतु

क्तमपि महत्त्व गम्यते । -महानन्दादिसमर्थनक्षमं गुणान्तरमप्याह—
 महाज्ञानी=महदनन्तत्वात्सर्वविषयत्वात्सर्वाधिक क्षायिकत्वात्सर्वविशुद्धं
 च यज्ज्ञान केवलज्ञान तदस्त्यस्येति स तादृश, सर्वज्ञ इत्यर्थ । यो
 महाज्ञानी तस्यैव महानन्ददये इति भाव । अनरवन्ति चक्राणीतिवत्कर्म-
 धारयान्मत्वर्थीयो बोध्य । हेतुद्वारकेण विशेषणेन ज्ञान समर्थय-
 न्नाह—महातपाः=मह-परैरसाध्यत्वान्निरन्तरत्वान्निर्दुष्टत्वान्महाफलत्वाच्च
 सर्वोत्कृष्ट सर्वविशुद्धं सर्वाधिक च तपोऽनशनादिरूप यस्य स तादृश,
 ज्ञानतपसो फलमाह—महायोगी=महान् सर्वाऽतिशयमूलतयाऽलौ-
 किकतयाऽसाधारणतया सर्वकर्मक्षयप्रयोजकतया चाऽनुपम. सर्वोत्कृष्टो
 निरन्तर प्रवृत्तोऽसाधारणो योगश्चारित्र समाधिर्वा यस्य स, योगीन्द्र
 इत्यर्थ । यदुक्तम्—“स एष योगसाम्राज्यमहिमा विश्वविश्रुत ।
 कर्मक्षयोत्थो भगवन् ! कस्य नाऽऽश्चर्यकारणम् ?” इति । ज्ञानतपसो-
 र्महायोगलाम. फलमिति कृतार्थत्वं ध्वन्यते । महामौनी=महत् सर्व-
 विलक्षणत्वात्सर्वोत्तमत्वादभङ्गुरत्वाच्चाऽसाधारणत्वाच्च सर्वश्रेष्ठं यन्मौन
 वाचयमता, तदस्त्यस्येति स । प्रियपथ्यतय्यमितवाक्यं हि पारमा-
 र्थिक मौनम्, वाङ्निरोधश्च शब्दार्थमात्रम्, वाङ्निरोधात्मकमौनस्य
 हि सदुपदेशादिविरोधितया लोकहिताननुगुणत्वादिति ध्येयम् । किञ्च
 महत्सर्वाऽतिशायि यन्मौन मुनित्व मुनेर्भावः कर्म च, तदस्त्यस्येति स.,
 महाज्ञानचारित्रसम्पन्न सम्यक्तुसम्पन्नश्चेत्यर्थः । यदुक्तम्—“सम्यक्तुमेव
 तन्मौन मौन सम्यक्तुमेव वे”ति बोध्यम् । स महादेव उच्यते ।
 लौकिकाऽनन्दमग्नौ निर्दयोऽल्पज्ञोऽल्पतपा वालयोगी मायामौनव्रती

ओषधिताञ्जनुगुणमौनी च परसम्पन्नो देव इति स शब्दमात्र इति च
विस्तार्यम् ॥ १२ ॥

सम्प्रति श्रीर्षादिमहत्त्वान्महादेवत्वमाह—

महावीर्यं महाधैर्यं महाश्रीलं महागुणः ।

महामञ्जुव्रमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥

महावीर्यमिति । यस्य = यावत्तस्य देवस्य, महावीर्यम् =
महदसाधारणत्वादलौकिकत्वात्सामिकत्वादनन्तत्वाच्चाञ्जस्य सर्वाधिकं
सर्वोत्तमं च महीर्यं सात्त्विक्य उच्चाह, तत् । महाधैर्यम् = महदस-
श्रोपसर्गादावप्यपक्षितत्वात्तमस्यमसाधारणत्वात्लौकिकं सर्वाधिकं बद्-
धैर्यमस्त्राम्यत्वमत्वरञ्जनुगुणश्च तत् । महाश्रीलम् = महदसाधारण-
दलौकिकत्वादनन्तत्वात्सममत्वाच्च सर्वोत्तमं यच्छ्रीलं चारित्रं तत् ।
महागुणः = महान् महन्निरपेन्द्रादिः स्पृहणीयत्वादसाधारणत्वाद्
लौकिकत्वात्सर्वोपकारकत्वाच्च सर्वाङ्गदो यो गुणो विनोक्तं सम्बन्ध-
मादिर्दयादिश्च स । महामञ्जुव्रमा = महती सखी सत्यामप्य-
पन्नरिप्यपि भावादसाधारण्यलौकिकि च अत एव मञ्जु मनोरमा
च या क्षमा तितिक्षा सा । 'तितिक्षा सहनं क्षमे'ति "मञ्जुमञ्जु-
मनोरमाणि चे"ति च हेमः । सामर्प्यास्तगुणयो गम्यते । एवमेतानि
अस्य, स महादेव उच्यते । न अन्यदेववदह्यहृत्स्थत्वादस्पृशीयोऽस्पृ-
ष्टाऽपि श्रोम्यत्वात्पैषो वाराविपरिमहादिना तद्विस्तृतीक गुणाऽ-
गुणवयाऽऽहसादिमत्त्वादस्यगुणोऽस्तीऽप्यप्राये निम्नोपतत्वादसहनः,

प्रसिद्धं चैतत्सर्वं तीर्थान्तरप्रसिद्धस्य महादेवस्य पुराणादौ । तस्माच्छब्द-
मात्रो महादेव परशासन इति भाव ॥ १३ ॥

अथ स्वयम्भूशब्दार्थनिर्वचनेन कृत्वा जिनशासनप्रतिपादितस्य
महादेवस्यैव स्वयम्भूपदवाच्यतेत्याह —

स्वयम्भूत यतो ज्ञान लोकाऽलोकप्रकाशकम् ।

अनन्तवीर्यचारित्र स्वयम्भूः सोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

स्वयम्भूतमिति । यतः = यस्य देवस्य, सार्वविभक्तिकस्तस् ।

यस्माद्धेतोरिति वा । लोकालोकप्रकाशकम् = लोकस्य चतुर्दशरज्जु-
प्रमाणस्य जगतोऽलोकस्य लोकवर्हिर्भूतस्य च यावत् आकाशप्रदेशस्य
अकाशक परिच्छेदकम् । यद्यपि लोकाद्वर्हिर्भूत न किमपि ज्ञेय तथापि
यदि स्यात्परिच्छिद्येतेति सम्भावनया महत्त्वद्योतनाय तथोक्तिरिति
बोध्यम् । ज्ञानम् = केवलज्ञानम्, तज्ज्ञान हि क्षायिकमिति निरावरण-
त्वालोकालोकप्रकाशकमिति बोध्यम् । स्वयम्भूतम् = स्वयमात्मना
‘परोपदेशादिक विनैव भूत प्राप्तमाविर्भूत वा । कर्मक्षये हि मेघापगमे
सूर्यवज्ज्ञान स्वयमेवाऽऽविर्भवति । किञ्च जिनाना क्षयोपशमवशाज्जन्मत
एव ज्ञानत्रयसमन्वितत्व निसर्गत एवेति बोध्यम् । तथा, अनन्तवीर्य-
चारित्रम् = अनन्त क्षायिकत्वादेवाऽविनश्वर वीर्यं सातिशय उत्साहश्चारित्र
शील च, सः = यतो यस्यैतानि, तत एव तादृशो देव, स्वयम्भूः =
स्वयम्भूरित्येवम्, अभिधीयते = गीयते । ज्ञानस्य स्वयम्भूतत्वादेव
स्वयम्भू, न तु परदेववदज्ञातजन्मत्वादिनाऽल्पज्ञानवीर्यचारित्रः स्वयम्भूः ।
एवञ्च लौकिकानां मते स्वयम्भूरपि शब्दमात्रः, जिनशासने तु गुणतः
शब्दतोऽर्थतश्चेति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

मनु यज्ञवता शब्दतोऽर्थनञ्च विनशास्तु इत्युच्यते स किमपि
इत्यपेक्षायामाह—

शिवो यस्माज्जिनः प्रोक्तः छद्मरश्च प्रकीर्तितः ।

कायोस्सर्गी च पर्यङ्गी स्त्रीशस्त्रादिविवर्जित ॥ १५ ॥

शिव इति । यस्मात्=यतो हेतो, जिनः=वयसि रागादीनि
जित्स्त्रीविद्धर अथमनाश्रि । कायोस्सर्गी=काय छरीरमुत्सृज्यते
क्षयस्त्वेन म्भाप्यते नासाग्रनिष्कम्बिरदृष्टया यत्र स कायोस्सर्गो मुद्राविशेषः,
सोऽस्त्यस्येति स उत्पितस्य सत स्मृच्छरीरनासाग्रनिष्कम्बिरदृष्टि
ककस्त्रितिविशेषमाश्रित इत्यर्थः । तथा, पर्यङ्गी=पर्यङ्गस्तनस्त्रि,
छद्मरश्च यथा— स्याज्जन्मयोरधोमानो पादापरिहृते सति । पर्यङ्गो
न्यभिगोचनदक्षिणोत्तरपाणिक ” इति । समाधिस इत्यर्थः । किमात्मने
कायोस्सर्गी समाधौ च पर्यङ्गीत्येष कलमेवेनाऽवस्थामन्वेन चोमबो
सत्त्व बोध्यम् । स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः=स्त्री दाराश्च छस्मम्युप
चादिना बाधनमूष्यादि च तैर्विनशितो रहितः, निष्परिमह इति भावः ।
यदुक्तम्— वपुश्च पर्यङ्गस्य स्त्र्यं च दृष्टौ च नृस्तानिमते स्थिरे चे’ति,
न शूलबाणपद्मादिसम्भाहकरफलम् । भाजनाकमनीबाह्वपरिवृद्ध
परामण इति न पक्षिपशुसिंहादिबाहनाऽऽसीनविग्रहः । इति च ।
चः=समुच्चये । मन्त्रद्वयक्यापम्यदिति कथ्यते । शिव=शिव
इत्यभिप्राया प्रोक्तः=प्रगीत छद्मरः=छे कल्पाने करोतीति स तदृक्,
च समुच्चये । प्रकीर्तितः=उपकीर्तित । दम्भाविसद्विधोऽस्माद्विषयेता
म्युदितवपुश्चाऽक्षिणोऽप्यिषकरश्च छस्मपाणादेरन्यथा निष्कम्बिरावयेति

परतीर्थेष्टो देवो न शिवो नाऽपि शङ्करः, किन्तु शब्दमात्रेण स शिवः
शङ्करश्च । गुणतोऽर्थतश्शब्दतश्च जिन एव तादृश इति तात्पर्यम् ॥१५॥

परतीर्थप्रसिद्धस्य महादेवस्य साकारनिराकारत्वादि यद्वर्ण्यते,
जिनशासनेष्टस्याऽपि तत्तथैवेति न तावताऽपि तस्य वैशिष्ट्यमित्याह—

साकारोऽपि ह्यनाकारो मूर्त्तोऽमूर्त्तस्तथैव च ।

परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥

साकारोऽपीति । सः=जिनशासनेष्टो महादेवः, हि =यत्,

साकारः=ससाराऽवस्थाया शरीरित्वाद्वाकारेण यथाक्रमसन्निविष्टाऽङ्गादि-
घटिताऽऽकृतिविशेषेण सहित, शरीरीति यावत् । ससारीति हृदयम् ।

न तु देवान्तरवदवतारग्रहेण तथा, मुक्तस्य जन्मग्रहणाऽयोगात् ।

जन्मादितो मुक्तिरेव हि मुक्तिरिति बोध्यम् । अत एव, मूर्त्तः=
निश्चयनयेनाऽऽत्मनः स्वभावतोऽमूर्त्तत्वेऽपि संसाराऽवस्थायां कर्माऽष्ट-
क्रोपगूढाऽऽत्मप्रदेशत्वाच्छरीराऽधिष्ठितत्वाच्च व्यवहारनयेन कथञ्चिद्रूपी,

अपिना साकारस्याऽनाकारता विरुध्यत इति सूच्यते । अपेक्षा-

भेदेन त्वविरोध इति बोध्यम् । तथैवेति समुच्चये । अनाकारः=

सिद्धावस्थाया कर्मणां साकल्येनाऽभावाच्छरीराद्यभावादविद्यमान आकार

उक्तप्रकाराऽऽकृतिर्यस्य स तादृशः, अशरीरीत्यर्थः । मुक्त इति यावत् ।

चो=हेतौ, यतोऽनाकारोऽत एव, अमूर्त्त =अरूपी, कर्मसम्बन्धाऽभावा-

त्कथञ्चिन्मूर्त्तत्वस्याऽप्यभावादिति भावः । एतेन परेष्टदेवस्य यथा साकार-

निराकारत्वादि तथा जिनशासनेष्टदेवस्याऽपीति न तावता कस्यचिदेक-

स्याऽपि न्यूनत्वमुत्कर्षो वा वर्णयितुं शक्यत इति सूच्यते । जिनशासने

महादेवस्य परमात्मत्वादिकमप्याह—परमात्मा, बाह्यात्मा, त्वैव
 अन्तरात्मा च । स महादेव इति प्रकरणाकृत्यते । परमात्मविज्ञ-
 मनुष्यमेव स्वयमेवोपपादयिष्यते इति व्येयम् । एषश्च साक्षरनिराक्षर-
 स्यादिना न केवलं परतीर्थिष्ठस्य महादेवस्य किमपि वैशिष्ट्यम्,
 जिनशासनेष्टस्य च तस्य काऽपि न्यूनता च । प्रत्युतीमन्न तत्र
 गुणानां सत्त्वस्तान्मयेव । किन्तु मत्तान्तं वृत्तनं मत्सेत्यादिना वर्तितं
 वैशिष्ट्यं तु जिनशासनेष्टस्य महादेवस्यैवेति परतीर्थिमहादेवस्य
 न्यूनता तदवस्थैवाऽप्यापीति बोध्यम् ॥ १६ ॥

अमुकं 'परमात्मा च बाह्यात्मे'त्यादि, कमश्चक्षुष्यमिष्यतिपुणौ
 परमात्मत्वमेव—

दर्शनज्ञानयोगेन परमाऽऽत्माऽयमव्ययः ।

परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

दर्शनेत्यादि । अव्ययः=प्रसूते जिनशासनेष्टो महादेवः,
 'अव्ययः'=अविनाशी, आत्मनो द्रव्यमेव निष्पत्त्यादिति भावः ।
 दर्शनज्ञानयोगेन=दर्शनं सात्त्विकं केवलदर्शनं सामान्यज्ञानात्मकं
 ज्ञानात्मिकं किञ्चेच्छब्देषु अज्ञानात्मकं सम्पत्त्यै च, ज्ञानं सात्त्विकं
 केवलज्ञानं स्वाद्यादाऽमिगताऽनेकान्तात्मकमवस्थितप्रसूतत्वात् च,
 त्वो स्वस्मिन् योग सम्बन्धः आत्मनो दर्शनज्ञानात्मकं परिमाण
 इति सत्त्वम्, तेन हेतुना । जिनस्य हि अन्तत एव दर्शनज्ञानत्रय-
 मुक्तया दीक्षान्तरं पातिर्कर्मक्षये केवलदर्शनज्ञानमुक्तत्वा बोध्याप्तम्,
 यथा दर्शनज्ञानयोगेन, अव्ययः=अमरणाध्यापरहितत्वाविनाशी

निर्विकारो निर्गुण इत्यर्थः । परमात्मा=परमो ज्ञानादिगुणोत्कर्षात्सर्वो-
त्कृष्ट पष्ठप्रकृतिरुत्तमोत्तम आत्मा । एतेन नहि निर्हेतुक परमत्व-
मात्मनोऽपि तु परमज्ञानादिगुणोत्कर्षात् । अत एवोक्तगुणसद्भावाज्जिन
एव वस्तुतः परमात्मा । तीर्थान्तरप्रसिद्धस्य च महादेवस्य परिग्रहेण
रागादिमत्त्वनिश्चयान्मत्यज्ञानादिकमेव, पुराणादितस्तस्यैकान्तात्मकवस्तु-
रूपेरेवाऽवगमादिति तस्य परात्मत्व शब्दमात्रमिति समर्थितम् । यद्वा-
अयं जिनशासनेष्टो महादेवो ज्ञानदर्शनयोगेन कृत्वा, अव्ययः=न
ज्येति परात्मत्वतोऽपगच्छति=दर्शनज्ञानादिना रहितो भवति, जन्मत
एव ज्ञानत्रयादियुक्तत्वादित्यव्ययः परमात्मा । सर्वविशुद्धज्ञानादितो
ह्यात्मनः परमत्व न तु बाह्यमात्रतः, ज्ञानादि चाऽस्य जन्मत एवेत्यय-
मव्ययः परमात्मा परमात्मत्वतो न कदापि हीयते । परेष्टदेवस्तु
लौकिकेषु विशिष्टज्ञानादिना बाह्यं परमात्मा गीयताम्, न त्वव्यय-
परमात्मा । अवताराद्यवस्थायां लौकिकविशिष्टज्ञानस्याऽप्यभावादिति
जिनशासनेष्टो देव एवाऽव्यय परमात्मेत्याशयः । ननु “य सर्वज्ञः
सर्वविदि” त्यादिना परेष्टदेवस्याऽपि सर्वज्ञत्वादिकमिति तस्यापि परमा-
त्मत्व पारमार्थिकमेवेति चेत्तत्राह—परेति । यस्येत्यर्थबलाल्लभ्यते ।
यस्याऽत्मनो महादेवस्य, परा=सर्वाधिका सर्वोत्कृष्टा च, मित्रद्वेषि-
साधारणत्वात्परां काष्ठामापन्नैत्यर्थः । क्षान्तिः=क्षमा, निग्रहसामर्थ्यं सत्यपि
चीतरागत्वादपराधादिसहनमित्यर्थः । यदुक्तम्—“हिंसका अप्युपकृता”
इति, “कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः । ईषद्वाष्पाद्रयोर्भद्र
श्रीवीरजिननेत्रयोरिति चेति भावः । अहिंसा=प्राणातिपातनिवृत्तिः,
चेन परेति सम्बध्यते । सर्वजीवविषयत्वात्सर्वसावद्यविरतत्वाच्च परा

महादेवस्य परमात्मतादिकमप्याह—परमात्मा, बाह्यात्मा, त्वैव
अन्तरात्मा च । स महादेव इति प्रकरणाश्रम्यते । परमात्मवित्त-
मनुपदमेव स्वयमेवोपपादयिष्यते इति ध्येयम् । एवञ्च साक्षरनिर्गुण-
त्वादिना न केवलं परतीर्णैस्तु महादेवस्य किमपि वैशिष्ट्यं,
त्रिनयनासनेष्टस्य च तस्य काऽपि न्यूनता च । प्रसूतोभयं तेषां
गुणानां सत्त्वास्तान्मयेव । किन्तु प्रज्ञानं दृष्टनं मत्सेत्वादिना वर्तितं
वैशिष्ट्यं ॥ त्रिनयनासनेष्टस्य महादेवस्यैवेति परतीर्णैस्तु महादेवस्य
न्यूनता त्वक्त्यैवाऽप्यापीति बोध्यम् ॥ १६ ॥

यदुक्तं 'परमात्मा च बाह्यात्मे'त्यादि, कमलसद्वपुसिपदवितुरागौ
परमात्मत्वमेव—

दर्शनज्ञानयोगेन परमाऽऽत्माऽपश्यत् ॥

परा धान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

दर्शनेत्यादि । अयम्=प्रसूतो त्रिनयनासनेष्टो महादेवः,
'अपश्यत्'=अभिनासी, आत्मनो द्रव्यमयेन निरुपपादिति भावः ।
दर्शनज्ञानयोगेन=दर्शनं शब्दिकं केवलमर्थपरं सामान्यज्ञानात्मकं
अपस्तिकं विनोक्तत्वेपु अज्ञानात्मकं सम्पत्त्यै च, ज्ञाने शब्दिकं
केवलज्ञानं स्वाद्याद्याऽमिमताऽनेकान्तात्मकस्यावस्थितवस्तुसत्त्वज्ञानं च,
स्यो स्वस्मिन् योगः सम्बन्धः आत्मनो दर्शनज्ञानात्मनो परिणाम
इति सत्त्वम् तेन हेतुमा । त्रिनयनं हि अमृत एव दर्शनज्ञानत्रय-
युक्तया बीजानन्तरं धातिकर्मक्षये केवलदर्शनज्ञानयुक्तया चेत्युच्यते,
यदा दर्शनज्ञानयोगेन, अपश्यत्=अन्मरणाद्यपावरहितमाभिनासी

=पूर्वशरीरत्यागानन्तरमपरशरीरग्रहणात्प्राक्च त्यक्तग्रहीष्यमाणभवयो-
न्तरे मध्ये, विग्रहगताविति यावत् । बाह्यात्मा=बहिर्भवो बाह्य स
चाऽसावात्मा च स तादृश, विग्रहगतौ ह्यौदारिकादिशरीरान्मुक्तेश्च
रहितत्वरूपबहिर्भावादात्मनो बाह्यत्वमिति स भवान्तरे बाह्यात्मेति
भाव । भवेदिति सम्बध्यते । तथा, देहे=शरीरे, शरीराधिष्ठानाव-
स्थायाम्, अन्तरात्मा=अन्तर्मध्ये स्थित आत्माऽन्तरात्मा, भवेदिति-
हाऽपि सम्बध्यते । देहे तिष्ठन् ह्यात्मा देहस्याऽन्तरस्तीति व्यवहारादिति
बोध्यम् । इति=एवम्प्रकारेण, त्रिविधः=एकोऽप्युपाधिभेदात्त्रि-
प्रकारः, भवेदिति सम्बध्यते । एवञ्च परेष्टदेवस्य वर्णितमुक्तत्रैविध्यम-
स्यैव युक्तियुक्तम् । ततश्च नाऽनो वैशिष्ट्यमन्यदेवस्येति तात्पर्यम्
॥ १८ ॥

जिनशासनेष्टस्य महादेवस्य सकलत्वादिकमप्याह—

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।

पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

सकल इति । स जिनशासनेष्टो महादेव इति प्रस्तावाल्भ्यते ।

दोषसम्पूर्णः=दोषैर्जन्मजरादिभिर्दूषणैः सम्पूर्णोऽविकलः सन्, भव-
स्थतादशाया हि जिनात्मनोऽपि ते दोषा रागादयोऽपि च चरमादन्य-
स्मिन् भवे इति तदा स दोषसम्पूर्णः । अत एव, सकलः=कलाभि-
र्भावावस्थामाविगुणै सहितः सकलः, सगुण इति यावत् । आत्मा हि
धृतदेहाद्युपाधि सगुण सकल इति वा कीर्त्यते इति बोध्यम् । दोष-
वर्जितः=दोषैरुक्तप्रकारैर्जन्मादिरागादिरूपैर्वर्जितो विनिर्मुक्तः, केवल-

काष्ठमापन्नत्वात्सर्वाभिका सर्वोत्कृष्टा च, सा=साक्षो देवः, परमात्म
 =परम परमकृन्त्यहिंसादिसद्भावसर्वभेदभावाभावात्मा च स तात्पर्यः
 उच्यते=वर्ण्यते । आत्मना निश्चयेन तु साम्यमेव, किन्तु यत्र दूरस्थे
 गुणोत्कर्षः, स तदपेक्षया सारतम्येन व्यपदिश्यते । तदेवं परम-
 न्यादिसद्भावत्वात्मा परमात्मेत्युच्यते । परेष्टे महादेवस्तु तत्त्वात्
 राष्ट्रेऽप्यसहनो वक्ष्यक्ष्णान्कोऽसुराविहन्ता चेति तस्य सत्त्वज्ञान-
 हिंसादेरप्यमात्रं, तदुत्पीनो वक्ष्णाधमाकथेति स सन्दर्भात् एव
 परमात्मा न तु बन्धुतः । परमात्मतस्तु परमात्मेकगुणसद्भावज्ञाना-
 नेहो महादेव एवेति हृदयम् । अत्र च पूर्वार्धेमात्संसारमवसानात्
 रार्धेन च संसार्यमस्यामां परमात्मप्रतिपादने सात्पर्यमित्यसि बोध्यम् ।

यदुक्त "परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव चेति ।
 तत्र विरोधं परिहरत्येकत्वात्प्यात्मनोऽवस्थाभेदेन व्यक्तत्वं प्रतिपाद-
 यन्तः—

परमात्मा सिद्धिप्राप्ती बाह्यात्मा तु नगान्तरे ।

अन्तरात्मा भवेदेहे इत्येवस्तिषिषा द्विरः ॥ १८ ॥

परमात्मेति । यथा=वस्तुनो विमलसन्धेः, द्विरा=द्विरात्मा,
 बाह्यः भगवान्दर्शनार्थिमान् विनेधर इति हृदयम् । सिद्धिप्राप्ती=
 सिद्धिरात्मनः सात्पर्यमेन चर्मशुभे सप्यन्तदर्शनार्थिमान्,
 मुक्तिरिति वाच्यम् । तस्या प्राप्ती स्थितं सति मुक्ती प्राप्तायां तस्य
 नित्यम् । परमात्मा=परमो गुणे इति परं चमत्प्रापन्नवापुषो-
 तमभावात्मात्मा च स तात्पर्यः, भवेत्=भूयान्=सुखमर्थः । नगान्तरे

=पूर्वशरीरत्यागानन्तरमपरशरीरग्रहणात्प्राक्च त्यक्तग्रहीष्यमाणभवयो-
रन्तरे मध्ये, विग्रहगताविति यावत् । बाह्यात्मा=बहिर्भवो बाह्यः स
चाऽसावात्मा च स तादृशः, विग्रहगतौ ह्यौदारिकादिशरीरान्मुक्तेश्च
रहितत्वरूपबहिर्भावादात्मनो बाह्यत्वमिति स भवान्तरे बाह्यात्मेति
भावः । भवेदिति सम्बध्यते । तथा, देहे=शरीरे, शरीराधिष्ठानाव-
स्थायाम्, अन्तरात्मा=अन्तर्मध्ये स्थित आत्माऽन्तरात्मा, भवेदिति-
हाऽपि सम्बध्यते । देहे तिष्ठन् ह्यात्मा देहस्याऽन्तरस्तीति व्यवहारादिति
बोध्यम् । इति=एवम्प्रकारेण, त्रिविधः=एकोऽप्युपाधिभेदात्त्रि-
प्रकारः, भवेदिति सम्बध्यते । एवञ्च परेष्टदेवस्य वर्णितमुक्तत्रैविध्यम-
स्यैव युक्तियुक्तम् । ततश्च नाऽतो वैशिष्ट्यमन्यदेवस्येति तात्पर्यम्
॥ १८ ॥

जिनशासनेष्टस्य महादेवस्य सकलत्वादिकमप्याह—

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।

पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

सकल इति । स जिनशासनेष्टो महादेव इति प्रस्तावाल्लभ्यते ।

दोषसम्पूर्णः=दोषैर्जन्मजरादिभिर्दूषणैः सम्पूर्णोऽविकलः सन्, भव-
स्थतादशाया हि जिनात्मनोऽपि ते दोषा रागादयोऽपि च चरमादन्य-
स्मिन् भवे इति तदा स दोषसम्पूर्णः । अत एव, सकलः=कलामि-
र्भावस्थामाविगुणैः सहितः सकलः, सगुण इति यावत् । आत्मा हि
धृतदेहाद्युपाधि सगुणः सकल इति वा कीर्त्यते इति बोध्यम् । दोष-
वर्जितः=दोषैरुक्तप्रकारैर्जन्मादिरागादिरूपैर्वर्जितो विनिर्मुक्तः, केवल-

दर्शनानुपारिश्रद्धावदिति बोध्यम् । निर्दोष इत्यर्थः । अत एव
 पञ्चदेहविनिर्मुक्तः=पञ्च पञ्चसङ्ख्यायां ये देहाः क्षरीराणि औदारिका-
 ऽऽहारकैश्चिन्मैत्रसत्कर्मणास्त्वामि ते सकलकर्मफलान्मूल्यान्प्राप्य-
 निर्मुक्तो रहितः, मुक्त इति यावत् । नहि मुक्तिं विना सर्वदोष-
 राहित्यमिति बोध्यम् । अत एव च, परमम्=सर्वोत्तमं सर्वोत्तमनिर्णयं
 च पदम्=स्नानम्, सिद्धाधिकारस्य स्नानमित्यर्थः । मुक्तत्वां तत्राज-
 स्नानमित्यात्म । सम्प्राप्त=अधिष्ठितः, स तावत् सन्, निष्कृतः=
 मत्सम्बन्धिसर्वदोषरहितत्वात्कस्मस्य उक्तप्रकाराम्यो निरति निष्कृतः,
 निर्गुण इत्यर्थः । सर्वदोषनिरोपाधिनिर्मुक्त आत्मा निष्कृतो निर्गुण
 इति वा गीयत इति ध्येयम् । एकस्याजस्य सकलत्वादिकं मुक्तिमुक्तम् ।
 परेष्टदेवस्य तु मुचयमाणापद्याह्मावत् । कस्मन्यवा दारादिपतिम्
 सस्य वर्जितः सङ्गच्छेत, मुक्तस्य सयोगादिति पारमार्थिकं सकलत्वा-
 दिकं विनस्त्येवेति तत्त्वम् ॥ १९ ॥

अतः परेष्टदेवस्य 'एकमूर्तिस्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा'
 इति प्रवृत्तिः, सा त्रिनमिषोपपन्न इत्याह—

एकमूर्तिस्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

त एव च पुनरुक्ता ज्ञानपारिश्रद्धर्चनात् ॥ २० ॥

एकमूर्तिरिति । एकमूर्तिः=एकाऽऽद्यायाऽद्वितीया वा केवला
 वा मूर्तिर्मूर्तिः, एको विनात्मैवेत्यर्थः । यद्वा मूर्तिराह्निः, तन्मेष्य
 विनाहृतिरेत्यर्थः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः=ब्रह्मा च विष्णुश्च महेश्वरश्च
 ते तत्रास्याः, "ब्रह्माऽऽत्मनः सुरज्येष्ठ" इति "विष्णुर्नारायणः हृद्यः"

इति, “शिव शूली महेश्वर” इति चाऽमरः । तय = त्रित्वसङ्ख्या-
विशिष्टा, भागाः = अंशाः, एको महादेवाऽऽत्मैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्या-
स्त्रयोऽशा इति पौराणिका । ते च भागा जिनात्मन एवेति हृदयम् ।
ननु नैतत्प्रसिद्धं काप्यागमादाविति चेत्तत्राह — ते = ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा-
स्त्रयो भागा, एव = नत्वन्ये, ज्ञानचारित्रदर्शनात् = ज्ञान केवल ज्ञान
चारित्र क्षायिक दर्शन केवल दर्शनम्, ततः, तदपेक्ष्येत्यर्थः, यल्लोपे
पञ्चमी । इतरेतरयोगद्वन्द्वेऽपि “सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवती”ति
परिभाषणादेकवचनम् । न च समाहारो युज्यते, ते इत्यनेन
विशकलितव्यक्तित्रयपरामर्शादुद्भूताऽवयवभेदविवक्षाया अवगमादिति
ध्येयम् । च = समुच्चये । पुनरुक्ताः = पुन प्रतिपादिता, भवन्तीति
शेषः । ब्रह्मादिशब्दैर्ये भागा उच्यन्ते त एव ज्ञानादिशब्दैरपीत्युक्ता
अपि पुनरुच्यन्ते । ज्ञानादिरूपा एवाऽर्हतो महादेवात्मनो भागा-
पर्याया ब्रह्मादयो नाऽन्ये, ब्रह्मादिशब्दैर्ज्ञानादय एवेहेष्टा इत्यग्रे स्फुटी
भविष्यति । तस्मादर्हन्नेव व्यात्मकः । परेष्टदेवस्य त्रेकस्या मूर्तेर्ब्रह्मादि-
मूर्तिर्भागो न युज्यते, एकमूर्तेर् मूर्तित्रयसन्निवेशाऽयोगात्, तदनुपदमे-
वोपपादयिष्यत इति ध्येयम् ॥ २० ॥

ननु ब्रह्मादिशब्दैर्ज्ञानादयोऽर्था अप्रतीता इति चेत्सादृश्यमूल-
लक्षणयैव तथावर्णनमिति गृहाण । नन्वेव परे तथा न मन्यन्ते,
किन्त्वेकस्या मूर्तेरेव तिस्रो ब्रह्मादयो व्यक्तयो भागा इत्येव तेषामाशय
इति चेत्, अनुपपद्यमानत्वान्न तत्र रुचिरित्यतोऽनुपपत्तिमुपपाद-
यन्नाह —

एकं मूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

परस्परं विभिन्नानामेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २१ ॥

एकमूर्तिरिति । मूर्तिः=देह, एका=असङ्ख्याद्वितीया, त्रैतीया वा “मूर्तिमत्करणकस्यमूर्तस्यो वेदसंज्ञनदेहस्यरा” इति ईशः ।
 ‘एकैऽन्याऽर्थे मयाने च मयमे कथने तत्र’ इति विश्व । तत्र
 इत्यर्थमवगतमस्यते । त्रयः=त्रित्वसङ्ख्याविस्तिथिः ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा
 =ब्रह्मविष्णुमहेश्वराभ्यास्तिस्रो व्यक्तम्, भागाः=अंशा कश्चित्
 परैरिति शेष । अत्र विमतिरितिमाह—परस्परम्=अन्योन्यम्,
 विभिन्नानाम्=भेदकत्वम् नहि यो ब्रह्मा स एव विष्णु स एव
 महेश्वरो वाऽविभक्तप्रत्यक्षारस्यात्तद्व्युत्पन्नमेवायं, ततश्च ते परस्परं निष्ठा
 एवेति तादृशानां तेषामित्यर्थः । एकमूर्तिः=एकमूर्तिश्च वा मूर्तिर्देहः,
 स्य कथम्=कन मकारेण, भवेत्=स्यत्, कथं नैव स्यादित्यर्थः ।
 अमेदे हि मूर्तेरैकं धर्मिष्ठम् यथेन्द्रकथ्यते । मेदे च विभिन्न
 मूर्तिर्यथा चैत्रमेक्यते । मेदेऽपि मूर्तेरैक्ये अगद्विसंस्तुतं विवर्त्यते
 वाऽऽपेक्षेन भेदश्च दुरुपपादः स्यात् । मूर्तिमेदे वाऽभेदत्वं दुस्त
 पादतेत्युक्तमप्यनुपपन्नमित्येकस्या व्यक्तेर्नाऽनेक व्यक्त्यो भगा इति
 युक्तम् । तस्माज्ज्ञानपारिवर्तनादेक व्यक्तिसंज्ञो भागा इत्येव
 अदेयमिति भावः ॥ २१ ॥

अन्येष्वप्या एव व्यक्तेर्यानि मानाऽविभक्तानि, न तु
 परस्परं विभिन्नास्तिस्रो व्यक्त्यो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा इति चेत्तद्वचनप्रस-
 मित्याह—

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः ।

कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २२ ॥

कार्यमिति । विष्णुः=विष्णुपदवाच्यो देव, कार्यम्=क्रिया-
जन्यफलाश्रय, कार्यस्थानीय इत्यर्थः । क्रियते यदिति कर्मव्युत्पत्तेरिति
बोध्यम् । ब्रह्मा=ब्रह्मपदवाच्यो देव, क्रिया=व्यापारस्थानीयः,
द्वारमिति यावत् । तुर्विशेषे मेदे च । महेश्वरः=महेश्वरपदवाच्यो
देवः, कारणम्=जनकस्थानीयः । महेश्वरप्रेरणया ब्रह्मण शरीराद्विष्णोः
आदुर्भाव इति पौराणिककथाऽनुसन्धानेनेत्यमुक्तिरिति ध्येयम् ।
तदित्यम्, कार्यकारणसम्पन्ना =कार्यकारणभावमापन्नास्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वर-
ास्त्रयः, एकमूर्तिः =अभिन्नतनु, कथं भवेत् ? =काका नैव कथमपि
भवेदित्यर्थः । नहि पितृपुत्रयोरभिन्ना मूर्तिरिति कोऽपि सचेत्ताः
प्रतिपादयेत् । मूर्त्यभेदे च कार्यकारणभाव एव न स्यात्, तस्य
व्यक्तिभेदनियतत्वात् । एवञ्चैकस्या एव व्यक्तेर्नानाऽभिधानानीति
वाचोयुक्तेरप्यनवसरः, एकव्यक्त्यभावात् । तदेव परोक्तदिशैकमूर्ति-
स्त्रयो भागा इत्यनुपपन्नमेवेति भावः ॥ २२ ॥

ननु यथा मृत्पिण्डस्यैकस्यैव कारणभूतस्य कपालः क्रिया-
स्थानीयो घटश्च कार्यस्थानीय इति वक्तुं शक्यम्, तथैकस्या एव व्यक्ते-
रवस्थामेदात्ते त्रयो भागा इति चेत्तदपि नेत्याह—

प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।

अभिजिज्ञन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २३ ॥

प्रजापतिस्तुत इति । प्रजा=प्रजापदवाच्यो देवः, प्रजापतिस्तुत=प्रजापतिनाम्नो द्विष्यस्तुत पुत्रः, “आत्मवस्तुनयस्तुस्तुत पुत्रः” इत्यमरः । माता=जननी, प्रजा इति साभिध्याव्रतीस्ते । पद्मावती=तदास्या प्रजापतिद्विष्यमाया, स्मृता=प्रतिपादिता, पुराणा वाचिती भावः । तथा, अन्नमनश्चतस्रम्=यस्यचतस्रपुत्रे काले प्रसूतो अन्नमनश्चतस्रं भूम् ‘मक्षत्रमूर्धं मे तारे’ इत्यमरः । अमित्रित्=अमित्रित्वात् । प्रजापतिमार्याया पद्मास्या कुशेर्ब्रह्माऽवतीर्ष्यति पौराणिक इति भावः । तदेवं स्थिते, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नहि येषां विभिन्नौ मातापितरौ अन्नकाकश्च भिन्नत्वेऽन्नमनश्चतस्रं दृष्टाः स्मृता वा, मातापतिभेदे एकस्या एव व्यक्तेरक्षणस्यैव प्रतिदत्त्वात् । किञ्च प्रजापामेकत्वे प्रजापतिस्तुतो प्रसूतोऽन्तार इति विशेपेण व्यपदेशो निर्देष्टुक एव स्यादिति नैकमूर्तिरिति भावः ॥ २३ ॥

मनु त्रिमूर्तिकैव मूर्तिर्जात इति चेत्तदपि नेत्याह—

अमुदेवसुतो विष्णुमाता च देवकी स्मृता ।

रोहिणी अन्नमनश्चतस्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २४ ॥

अमुदेवेति । विष्णुः=विष्णुपदवाच्यो देवः, अमुदेवसुतः=अमुदेवास्मिन्पुत्रः माता=जननी वाः समुद्यये । विष्णोरिति मत्स्यास्य कथ्यते । देवकी=तदास्या अमुदेवमृष्यमाया, स्मृता=कथिता, अन्नमनश्चतस्रम्=यस्मिन्चतस्रे अन्नमनश्चतस्रं रोहिणी=तदास्याम् । अमुदेवमृष्यमाया देवस्या कुशेर्ब्रह्मा इत्यन्तामाऽन्ततार । यदुक्तम्—“एते चोदकसाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति पौराणिकः । एवं

शूलधारकः=शूलस्य तदारत्यशस्त्र-
 तृतीयः=विष्णुः, शङ्खचक्राङ्क =
 तादृशः, एव प्रत्येकमङ्कभेदे सति,
 एकस्या मूर्तेर्विभिन्न चिह्न प्रसिद्धमिति
 गाम्, एकस्याऽनेकचिह्नत्वे लोकानां
 ७ ॥

तैत्त्व समर्थ्य मुखाद्यङ्गवैलक्ष्येनाऽपि

नेत्रोऽथ महेश्वरः ।

ऋमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

चतुर्मुखः=चत्वारि चतु सङ्ख्यानि
 =तथा, महेश्वरः, त्रिनेत्र =त्रीणि
 एक भालस्थमित्येवं यस्य स तादृशः,
 चारो भुजा बाहवो यस्य स तादृशः,
 चतुर्भुजत्वं तयाणामेव पुराणादा-
 यमिति चिन्त्यम् । एवमत्रयववैलक्ष्ये
 । यो हि चतुर्मुखः सोऽष्टनेत्रोऽष्ट-
 भुजश्चेति नैकमूर्तिस्ते इति तात्पर्यम्

प्रजापतिस्तुत इति ।

सुत—प्रजापतिनामो द्विकस्य सु,
पुत्र” इत्यमरः । माता=ज,
पद्मावती=तवास्मा प्रजापतिद्वि,
वामिति माष । तथा, सन्म
बन्म तत्त्वत्वं मम् ‘नक्षत्रमूर्त्ति
जिवास्मत् । प्रजापतिमार्याया
पौरषिष्य इति माष । तदवे
नहि येषां निमित्तौ मातापित
इत्याः मुना वा मात्रात्म्यमेदे एकस्
किञ्च प्रजाप्यामेकत्वे प्रजापति
व्यपदेष्टा निर्देष्टुक एव स्वात्रिनि

ननु त्रिमयैकैव मूर्तिर्जाति

पसुदेवसुतो निष्पुमाता

रोहिणी बन्मनसुतमेक

सुदेवेति । निष्पु = नि

सुदेवास्मत्पुत्र माता=जमनी
सत्या सम्भते । देवद्वी=तवास्मा
बन्मनसुतम्=पश्मिष्यत्वे बन्म त
मार्याया देवस्य ‘कुसोर्विष्णु कृष्ण
चांशुश्च पुत्रः कृष्णास्तु भगवान्

गरुडः स एवैक यान यस्य स तादृशो गरुडवाहन, “ गरुमान्
गरुडस्ताक्षर्यो वैनतेय खगेश्वर ” इत्यमर । भवेत् । तदेव प्रत्येकं
वाहनमेदे सति एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नह्येकमूर्तेर्देवस्य नित्यं
विभिन्नवाहनविशिष्टतया ख्यातिः सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवैक
वाहनमित्यबद्ध स्यात्, वाहनमेदेन विवेकेन तत्तदेवग्रहश्च न स्यात् ।
जायते च तथैवेति नैकमूर्तिरिति भावः ॥

सम्प्रति करग्राह्यमेदेन मूर्तिभेदमाह—

पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि महेश्वरः ।

चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

पद्महस्त इति । ब्रह्मा, पद्महस्तः=पद्म कमल नित्य हस्ते
यस्य स तादृशः, पद्मपाणिरित्यर्थः । व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव,
अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेधः सङ्गच्छते । “ अवज्यो
हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद ” इति वामनश्चेति बोध्यम् ।
भवेत् । महेश्वरः, शूलपाणिः=शूल तदाख्यं शस्त्रं नित्यं पाणौ यस्य
स तादृशः, भवेदिति सम्बध्यते । विष्णु, चक्रपाणि =चक्र सुदर्श-
नाख्य चक्रमायुधं नित्यं पाणौ यस्य स तादृशः । भवेत् । ततश्च,
एकमूर्तिः कथं भवेत् ? नह्येकमूर्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि
प्रसिद्धानि । यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुमेदो नाऽयुक्तः,
तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञानं पद्मादिद्वारा नैव स्यात्,
जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्णवादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा
त्पद्मादीनि विभिन्नमूर्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

मेवादेकमूर्तिवद्भानिरिक्तात्माऽपेक्षयैव तादृशोक्तिरिति पुनर्नर्णमेवार्थे-
मूर्तित्वं विपटयन्नाह—

रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।

कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २६ ॥

रक्तवर्ण इति । ब्रह्मा, रक्तवर्णः=रक्तो लोहितो वर्णो रक्तं
मस्य स तादृशः । श्वेतवर्ण इति । “लोहितो रोहितो रक्त”
इत्यमरः । महेश्वरः, श्वेतवर्णः=शुद्धवर्णः, “शुद्धशुद्धशुद्धनिष्ठ-
निष्ठवश्येतपाप्मुरा” इत्यमरः । भवेत्, पुराणाद्यौ तथा प्रतिपादनात्-
वक्ष्याम्यते इति बोध्यम् । विष्णुः, कृष्णवर्णः=नीलकण्ठविः, “कृष्णे
नीलाऽस्तिश्यामकण्ठस्यामलमेव च” इत्यमरः । एवं मत्वेकं विमित्त-
वर्णत्वे सति एवमूर्तिः कथं भवेत् ? । तदेकत्वा मूर्तेर्विभिन्नवर्णत्वं
प्रसिद्धम् । एवञ्च कर्मभेदान्मूर्तिभेदो निश्चित एवेत्यतः परोक्ष सर्वबाह्य-
पक्षमेवेति भावः ॥ २६ ॥

मन्त्रस्तारमेवाहूर्णमेवोऽपि सम्भाव्यत एव । वर्णस्य सात्त्विकात्
कृत्वाविति न तावदेकमूर्तिमन्त्रमुक्तमिति युक्तमित्यतश्चिह्नमेवेदेकमूर्ति-
त्वाऽनुवपतिमाह—

अक्षयणी भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः श्वेतपारकः ।

तृतीयः शङ्खचक्राह एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २७ ॥

अक्षयणीति । ब्रह्मा, अक्षयणी=अक्षे कर्मणाहाति तन्निर्मितं
सर्वं मात्स्यमस्तस्य कक्षमिति स तादृशोऽक्षयणी, अक्षयन्नाह इत्यर्थः ।
द्वितीयः=महेश्वरस्तस्यो देवाः, तस्य च पूर्वोक्तोक्तकर्मणाऽपेक्षया द्वितीयत्वं

कृष्णस्य च तृतीयत्वमित्यवधेयम् । शूलधारकः=शूलस्य तदारव्यशस्त्र-
विशेषस्य धारकः, शूलाङ्क इत्यर्थः । तृतीयः=विष्णुः, शङ्खचक्राङ्क =
शङ्खध्वज चाऽङ्कौ चिह्ने यस्य स तादृशः, एव प्रत्येकमङ्कभेदे सति,
एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नह्येकस्या मूर्तेर्विभिन्न चिह्न प्रसिद्धमिति
चिह्नभेदाद्विज्ञेय मूर्तिर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरानाम्, एकस्याऽनेकचिह्नत्वे लोकानां
परिचयव्यामोहापत्तेश्चेति भावः ॥ २७ ॥

तदेव चिह्नभेदेन विभिन्नमूर्तित्वं समर्थ्य मुखाद्यङ्गवैलक्षण्येनाऽपि
तदुपपादयन्नाह—

चतुर्मुखो भवेद् ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वरः ।

चतुर्भुजो भवेद् विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

चतुर्मुख इति । ब्रह्मा, चतुर्मुखः=चत्वारि चतु सङ्ख्यानि
मुखानि यस्य स तादृशः, अथ=तथा, महेश्वरः, त्रिनेत्रः=त्रीणि
त्रित्वविशिष्टानि नेत्राणि द्वे यथावस्थे एक भालस्थमित्येव यस्य स तादृशः,
भवेत्, विष्णुः, चतुर्भुजः=चत्वारो भुजा बाहवो यस्य स तादृशः,
“भुजवाहू प्रवेष्टो दोरि”त्यमरः । चतुर्भुजत्वं तयाणामेव पुराणादा-
वुक्तमिति न तावतेह वैलक्षण्य साध्यमिति चिन्त्यम् । एवमवयववैलक्षण्ये
सति, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । यो हि चतुर्मुखः सोऽष्टनेत्रोऽष्ट-
बाहुश्चौचित्यात्स्यान्न तु त्रिनेत्रश्चतुर्भुजश्चेति नैकमूर्तिस्ते इति तात्पर्यम्
॥ २८ ॥

अन्मदेशमेवावपि निमित्तमूर्तित्वमितिहा—

मपुरायो आतो प्रज्ञा राक्षगृहे महेश्वरः ।

द्वारावस्थामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २९ ॥

मपुरायामिति । प्रज्ञा, मपुरायाम्=तदास्थानी नम्यादि,
आतो=अस्तीत्यर्थः, महेश्वरः, राक्षगृहे=तदास्थाने मगरे आत इति
सम्बध्यते । विष्णुः, द्वारावस्थाम्=तदास्थाना नम्यादि, अभूत्=
आस कृष्णस्याऽपि मपुरायामेव अन्म, अरासन्धवृषमम्यस्तः पञ्चमिहा
पञ्चमसमुद्रतटे द्वारावस्थी नगरी निर्माय तन्नेवासेत्येष पुराणादौ प्रति-
पदितमितीह किम्यम् । एवं अन्मदेशमेवे सति, एकमूर्तिः कथं
भवेत् ? । नैकमस्या एव मूर्तेरनेकदेशे अन्मेति नैकमूर्तिरित्यभि-
प्रायः ॥ २९ ॥

बाह्वनमेवेनाऽपि मूर्ते र्मेवमाह—

हंसयानो भवेत्प्रज्ञा वृषयानो महेश्वरः ।

साहस्ययानो भवेद्विष्णु रेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥

हंसयान इति । प्रज्ञा, हंसयान =हंसयानास्त्व मसिद्धः
पक्षिरिशोपो नित्यं स परिक यानं बाह्वनं यत्न स साहस्यो हंसबाह्वनः,
“यानं युष्मं पत्र बाह्वं बह्वं बाह्वनपोरणे” इति ईम । भवेत्,
महेश्वरः, वृषयानः=वृषो मन्वास्थ्यो बभ्रीवर्षो नित्यं यानं यत्न स
साहस्यो वृषबाह्वनः, भवेदिति सम्बध्यते । “उवा मद्रो बभ्रीवर्ष
भद्रमो वृषमो वृष” इत्यमरः । तथा विष्णुः, साहस्ययानः=साहस्यो

गरुडः स एवैक यान यस्य स तादृशो गरुडवाहन, “ गरुत्मान्
गरुडस्ताक्ष्यो वैनतेय खगेश्वर ” इत्यमर. । भवेत् । तदेव प्रत्येकं
वाहनमेदे सति एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नह्येकमूर्तेर्देवस्य नित्य
विभिन्नवाहनविशिष्टतया ख्यातिः सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवैक
वाहनमित्यवद्ध स्यात्, वाहनमेदेन विवेकेन तत्तदेवग्रहश्च न स्यात् ।
जायते च तथैवेति नैकमूर्तिरिति भावः ॥

सम्प्रति करग्राह्यमेदेन मूर्तिमेदमाह—

पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि महेश्वरः ।

चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

पद्महस्त इति । ब्रह्मा, पद्महस्तः=पद्म कमल नित्य हस्ते
यस्य स तादृशः, पद्मपाणिरित्यर्थः । व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव,
अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेध सङ्गच्छते । “ अवज्यो
हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद ” इति वामनश्चेति बोध्यम् ।
भवेत् । महेश्वरः, शूलपाणिः=शूल तदाख्यं शस्त्रं नित्यं पाणौ यस्य
स तादृशः, भवेदिति सम्बध्यते । विष्णु, चक्रपाणि =चक्र सुदर्श-
नाख्य चक्रमायुधं नित्यं पाणौ यस्य स तादृशः । भवेत् । ततश्च,
एकमूर्तिः कथं भवेत् ? नह्येकमूर्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि
प्रसिद्धानि । यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुमेदो नाऽयुक्तः,
तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञानं पद्मादिद्वारा नैव स्यात्,
जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्णवादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा
त्पद्मादीनि विभिन्नमूर्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

बन्मवेष्टमेदावपि विभिन्नमूर्तित्वमित्याह—

मधुरायाम् जातो ब्रह्मा राजसूदे महेश्वरः ।

द्वारावस्यामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २९ ॥

मधुरायामिति । ब्रह्मा, मधुरायाम्=तदास्मात् नम्याम्, स्वातः=भस्तीर्ण, महेश्वरः, राजसूदे=तदास्मै नगरे, जात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वारावस्याम्=तदास्मात् नम्याम्, असूत=अस्त इत्यस्याऽपि मधुरायामेव ब्रह्म, ब्रह्मसूत्रमनुपमसूतः पञ्चमिष पञ्चमस्तमुद्रतटे द्वारावर्त्तं नगरीं निर्माय तत्रैवासेत्येवं पुरापादौ पवि-
पविठमितीह भिन्नम् । एवं बन्मवेष्टमेदे सति, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । न्येष्टत्वा एव मूर्तेरनेकदेशे बन्नेति नैकमूर्तिरिति
अत्र ॥ २९ ॥

बाह्वनमेदेनाऽपि मूर्ते र्मेवमाह—

इसयानो भवेन्नद्या रूपयानो महेश्वरः ।

तार्क्ष्ययानो भवेद्विष्णु रेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥

इसयान इति । ब्रह्मा, इसयानः=इसस्यदास्मै 'प्रसिद्ध' पक्षिभिरोपो नित्यं स पक्षि भानं बाह्वनं अस्मै स तादृशो इसयाहनः, "भानं सुम्भं पत्रं वाद्यं बध्नां बाह्वनभोरणे" इति हैम । भवेत्, महेश्वरः, रूपयानः=रूपो मन्वास्म्यो बलीकरो नित्यं भानं अस्मै स तादृशो रूपवाहनः, भवेदिति सम्बध्यते । "अथा मन्वो बलीकरो यूपमो रूपमो रूप" इत्यमरः । तथा, विष्णुः, तार्क्ष्ययानः=तार्क्ष्यो

गरुड. स एवैकं यान यस्य स तादृशो गरुडवाहन, “ गरुत्मान्
गरुटस्ताक्षर्यो वैनतेयः खगेश्वर ” इत्यमरः । भवेत् । तदेव प्रत्येक
वाहनभेदे सति एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नपेकमूर्तेर्देवस्य नित्य
विभिन्नवाहनविशिष्टतया स्यान्ति सम्भवन्ति, विभिन्नवाहनत्वे स एवक
वाहनमित्यत्र स्यात्, वाहनभेदेन विवेकेन तत्तद्देवग्रहश्च न स्यात् ।
जायते च तथैवेति नैकमूर्तिरिति भावः ॥

सम्प्रति करग्राह्यभेदेन मूर्तिभेदमाह—

पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि महेश्वरः ।

चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

पद्महस्त इति । ब्रह्मा, पद्महस्तः=पद्म कमल नित्यं हस्ते
यस्य स तादृशः, पद्मपाणिरित्यर्थः । व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव,
अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेधः सङ्गच्छते । “ अवज्यो
हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद ” इति वामनश्चेति बोध्यम् ।
भवेत् । महेश्वरः, शूलपाणिः=शूल तदारख्यं शस्त्रं नित्यं पाणौ यस्य
स तादृशः, भवेदिति सम्बध्यते । विष्णु, चक्रपाणि=चक्र सुदर्श-
नाख्य चक्रमायुधं नित्यं पाणौ यस्य स तादृशः । भवेत् । ततश्च,
एकमूर्तिः कथं भवेत् ? नपेकमूर्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि
प्रसिद्धानि । यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुभेदो नाऽयुक्तः,
तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञानं पद्मादिद्वारा नैव स्यात्,
जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्ण्वादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा
त्पद्मादीनि विभिन्नमूर्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

अथ अन्यत्र उक्तमेवेन मूर्तिमेवमाह—

कृते जातो भवेद्दशा सेतायां च महेश्वरः ।

विष्णुश्च द्वापरे जात एकमूर्तिः कथं भवेत् ॥ ३२ ॥

इति इति । ब्रह्मा, कृते=कृत्स्नयुगे, सत्स्युग इत्यर्थः । प्रसिद्धं
युगास्तुष्टयेषु प्रथमे युगे इति यावत् । जातः=व्यक्तीर्णः, भवेत् ।
महेश्वरः, सेतायाम्—तदास्ये द्वितीये युग इत्यर्थः । च। सत्स्युगे ।
जात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वापरे=तदास्य तृतीये युग इत्यर्थः,
जातः, च। सत्स्युगे । तदेवं अन्यत्र उक्तस्यैकमूर्तिमहत्त्वतरे एकमूर्ति न
कस्मिन् युज्यते तदाह=एकमूर्तिः कथं भवेदिति । नैकमूर्तेर-
नेक्य कालेषु पुनः पुनर्बन्धनं कस्मिन् योम्यमसम्भवात्, सस्मत्ते ब्रह्मो भगव
नैकमूर्तेः कथमनुपपद्यन्त इति तन्मिथैव । यद्यप्येकस्यैव नैकमस्वा-
वतारमेवेन पितृविक्रमकालान्तमेव सम्भवति । तथाऽपि कार्यकारण-
रूपता समकालसिद्धिमात्रां च कस्मिन् गोपयते, एकत्वं चेत्तत्स्यै-
कमिन् काले नानाधरीराजविधानविरोधात्कार्यकारणरूपतायां भेदे
सत्येवोपपत्तेरिति नैकमूर्तिः । किञ्च न मूर्तिभेदेनोऽपि तन्मूर्ति इति
त्रिभागात्मकमूर्तेरुक्तत्वात्पितृकालमेवेत्यसम्भवेन ॥ ३२ ॥

तदेवं परेऽप्येकस्यैकमूर्तेरिभागात्मकसमप्रसमिति निष्ठरेवोपपाद्य,
अमुक्तं 'ज्ञान धारित्रार्थनादि'नि तद्विशदं निवृण्वन्माह—

ज्ञाने विष्णुः सदा प्रोक्तं ब्रह्मा धारितमुपपत्ते ।

सम्पत्स्यं तु शिवः प्रोक्तमहंमूर्तिस्तथा धारिमका ॥ ३३ ॥

ज्ञानमिति । ज्ञानम्=सम्यग्ज्ञान केवलज्ञानं च, सदा=सर्वदा,
न तु यदाकदाचिदेव, विष्णुः=विष्णुरित्येवम् । प्रोक्तम्=प्रतिपादितम्,
तज्ज्ञैरिति शेषः । व्यापकत्वाद्वि विष्णुरित्युच्यते पालकत्वाच्च । एत-
द्गुणद्वयं च ज्ञाने, केवलज्ञानस्य सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेन व्यापकत्वात्सकल-
कर्मक्षयहेतुतया भवमयात्पालकत्वाच्चेति ज्ञानं विष्णुरिति प्रोक्तम् ।
तथा, चारित्रम्=सर्वसावद्यविरति, ब्रह्मा=ब्रह्मपदवाच्यम्, उच्यते=
प्रतिपाद्यते । ब्रह्मा हि ब्रह्मचर्यम्, तदेव च सत्याऽहिंसाऽस्तेयाऽपरि-
ग्रहं पमहाव्रतसर्गमूलम् । ब्रह्मचर्यं विना सत्यादेर्यथावत्पालनाऽसम्भ-
वात् । ब्रह्मा च जगत्त्रयेति सर्वजगन्मूलमिति द्वयोर्ब्रह्मणोरैक्यम् ।
किञ्च चारित्रमेव पारमार्थिको ब्रह्मा, सत्यादिगुणाऽऽधानादिना भवक्षय-
पूर्वकसिद्धिसर्गमूलत्वात् । इतरस्तु ब्रह्मा भवसर्जक इति भवपरम्परा-
वर्धक इति सर्जनधर्मसाधर्म्यादेव तस्य ब्रह्मत्वमिति निकृष्टत्वाद्धेय एवेत्या-
शयः । एवम्, तुः पुनरर्थे, सम्यक्त्वम्=तत्त्वार्थश्रद्धानात्मक
सम्यग्दर्शनम्, शिवः=शिवपदवाच्य, प्रोक्तम्=उपवर्णितम् शिवो हि
पुराणादौ जगत्संहारको वर्णित, सम्यक्त्वमपि च कर्मक्षयोपशमहेतु-
गुणवृद्धिक्रमेण सर्वकर्मक्षयपूर्वकभवक्षयहेतुश्चेति तदेव परमार्थतः शिव
इति नात्पर्यम् । तदेवम्, अर्हन्मूर्तिः=अर्हतस्तीर्थङ्करस्य मूर्तिस्तनुः,
“स्त्रिया मूर्तिस्तनुस्तनुरित्यमरः । त्रयात्मिका=त्रये चारित्रज्ञान-
दर्शनात्मिका ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा आत्मा स्वरूप यस्याः सा तादृशी । केवल-
ज्ञानादेरर्हत्येव सत्त्वात्स एवैकमूर्तिस्त्रयो भागाः । तदेतत्सुष्ठुक्तम्
“एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । त एव च पुनरुक्ता ज्ञान-
चारित्रदर्शनादि”ति । कस्याऽपि देवस्य व्यात्मकत्वस्योक्तप्रकारेणाऽ-

अप्यनेके एकस्मिन्नपीति गुणाऽष्टकसद्भावादहर्न्नेवाऽष्टमूर्त्तिरिति तात्पर्यम् ।
आर्यावृत्तम् ॥ ३४ ॥

क्षित्यादिगुणान्निरूपयन्नाह—

क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।

निःसङ्गता भवेद्वायु हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥

क्षितिरिति । क्षान्तिः=शक्तौ सत्यामप्यपकारिष्वपि क्षमा,
अपराधादिसहनात्मको गुणविशेष इत्यर्थः । अर्हत इति षष्ठ्यन्त सर्वत्र
प्रस्तावात्सम्बन्धनीयम् । येत्युद्देश्ये, प्रसन्नता=साकल्येन कर्ममलाऽ-
भावाद्वागादिदोषाऽभावाच्चाऽऽत्मनो निर्विकल्पत्वान्निरुपाधित्वाच्च निर्मलता,
विशुद्धता स्वच्छता वेत्यर्थः । “प्रसन्नोऽच्छ” इत्यमरः । येति यच्छब्द-
बलाच्चदिति लभ्यते । जलम्=सलिलम्, उच्यत इति सम्बध्यते ।
चोऽन्वाचये । जलमपि निर्मलमिति प्रसन्नता जलतत्त्वमिति भावः ।
तथा, निःसङ्गता=निर्लेपता, वीतरागतेत्यर्थः । वायुः=पवनः, भवेत्=
स्यात् । पवनो ह्यस्निग्धत्वान्न कुत्राऽपि सजति, तथाऽर्हन्नपि वीतरागत्वान्नि-
सङ्ग इति निःसङ्गता वायुतत्त्वमिति बोध्यम् । एवम्, योगः=शुक्ल-
ध्यानम्, हुताशः=अग्निः, यथा हि हुताश इन्धनादिदाहकस्तथा
योगोऽपि सर्वकर्मन्धनदाहक इति योगोऽग्नितत्त्वम्, उच्यते=प्रतिपाद्यते
॥ ३५ ॥

यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः ।

अलेपकत्वादाकाशसङ्काशः सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥

वज्रमान इति । आरमा=मर्हत्स्वबोधोपदेशः, तपोदानवा-
दिभिः=तपःपुष्ट्याऽऽप्तममत्तादिकम् । दानं वीक्षामृदण्यम् धर्मिष्ठा-
नादिकम् । यथा निहंतुकसर्वमृतानुकम्पा, सर्वमृतादेशेनाऽहिंसोत्तरे
द्यात्मस्य सर्वसावधिरुत्साधेति भावः । आदिना प्रज्ञाऽपलिम्बादि-
तैः कृत्वा, यजमानः=याजकः, यज्जतर । यथादिकमेव हि यज्ज-
यजनम्, हिसादिषां तु दुरितानुबन्धित्वाद्युपमत्वात्सात्य कर्मेति
उक्त्यजयमेवेति भावः । तथा सा=मर्हतात्मा, अनेपकत्वात्=
कर्ममन्त्रेपसाधनाऽऽप्तवशून्यत्वात्तत्कृत्वाच्युद्धृत्वा लक्ष्मिनि रिपये
लेप्योम्यताया अप्यमावादिनि कर्मकृत्वात्मकलेपाऽद्विषयादित्यर्थः ।
आकाशसङ्काशः=आकाशोपमा, ' निमस्यसनीकृच्छ्रणीकृच्छो-
मादय' इत्यमरः । अमिधीयते=गीयते । यथाऽऽकृष्टोऽमूर्तत्वात्तेन-
दिलेपाऽयोम्यत्वात्तथाऽयमपि निर्गुणादिति उक्तं निर्व्यताऽऽकाशतत्त्वमिति
भावः ॥ ३६ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिचन्द्रो वीतरागाः समीक्ष्यते ।

ज्ञानप्रकाशकत्वेन स आदिस्थोऽभिधीयते ॥ ३७ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिरिति । वीतरागाः=रागादिरहितोऽर्जुन, सौम्य
मूर्तिरुचिः=सौम्या प्रिया मृशान्ताऽनुश्लेषकरा मनोहा प मूर्तिरुचिः
धरीरममा मत्स्य स सादृशः सन् यदुक्तम्—“मासां पयै परिहृते
ज्योत्स्नामिस्त्रि चन्द्रमा । चकोराणामिह इसां वदसि परमं
गुहमि”ति । सौम्य च मधुरं मिममि”ति हैमाः । “सुः प्रमा-
मुचिरि”त्यमरः । अत्र एव, चन्द्रः=चन्द्र इव, समीक्ष्यते=अवलोक्यते

क्यते । चन्द्रोऽपि हि प्रियदर्शन इति वीतरागस्य सौम्यमूर्तिरुचिश्चन्द्र-
तत्त्वमित्याशयः । तथा, सः=वीतरागः, ज्ञानप्रकाशकत्वेन=ज्ञानस्य
सम्यग्ज्ञानस्य प्रकाशकत्वेनोपदेशादिनोद्बोधकत्वेन, आदित्यः=सूर्य इव,
अभिधीयते=कीर्त्यते । सूर्यो हि तमोनाशपूर्वकं जगत्प्रकाशयति,
तथा वीतरागोऽपि सदुपदेशेनाऽज्ञानं विनाश्य सम्यग्ज्ञानं प्रकाशयतीति
ज्ञानप्रकाशकत्वं वीतरागस्य सूर्यतत्त्वम् । यदुक्तम्—“यः परात्मा पर-
ज्योतिः परमं परमेष्ठिनाम् । आदित्यवर्णं तमसः परस्तादामनन्ति यमि”ति
भावः । तदेव गुणगुणिनोरभेदनये उक्तप्रकारेण क्षित्याद्यात्मकक्षमाद्यष्ट-
गुणात्मकत्वादहर्हन्नष्टमूर्तिः । परेष्टो महादेवस्तु विभिन्नव्यक्तीनामभेदाऽ-
सम्भवस्य प्रागुपपादितत्वाच्छ्रुतवधादिप्रवृत्ततया क्षमाद्यभावनिश्चयाच्च
शब्दमात्रोऽष्टमूर्तिरिति हृदयम् ॥ ३७ ॥

तदेवं गुणतोऽहर्हन्नेव महादेव इति स एव नमस्करणीय
इत्याह—

पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।

अहंस्तस्य नमस्कारः कर्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥

पुण्यपापविनिर्मुक्त इति । अहंन्=वीतरागस्तीर्थङ्करः, सर्वैः सुरा-
दिभिः कृता पूजामर्हतीति स तादृशः । यदुक्तम्—“यस्मादहंति
पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके । देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वा-
नामि”ति । रागद्वेषविवर्जित=रागेणाऽऽसक्त्या द्वेषेणाऽप्रीत्या
चोपलक्षणत्वान्मोहकपायादिमिश्रं विवर्जितो रहितः । यदुक्तम्—“न
केवलं रागमुक्तं वीतरागः ! मनस्तव । वपुःस्थितं रक्तमपि क्षीरधारा-

सहोदरमि"ति । अत एव, पुण्यपापविनिर्मुक्तः=पुण्यपापविनिर्मुक्तः
 विहितकर्मजन्यै पापैस्तथाकल्पैर्निषिद्धकर्मजन्यैश्च कर्मभिः, शुभैरशुभै-
 र्त्यर्थः । विनिर्मुक्तो रहितः, शून्य इत्यर्थः । वीतरागत्वात्सोऽन्तरात्म-
 न्त्वाऽऽत्मवत्तद्विस्तारव्यापनां क्षयाच्च । यदुक्तम्—“अन्तरात्मा
 प्रतिभा समिधा शमवर्तिना । त्वया काममकुञ्चन्त कुटिलं कर्म
 कष्टकम्” इति, “अनन्तकालमपि मनस्तमपि सर्वथा । त्वत्ते माञ्ज-
 न्यकर्मकञ्जमुन्मुख्यमिति मूलम्” इति च । न ह्यन्यो देवो वीतराग-
 दारादिपरिमद्भवैरिति महद्विस्तारव्यपि सर्वकिमुद्यत्तत्सर्वोत्तमोऽर्थवेति
 भावः । तस्मादेतोरित्यर्थकालात्सम्भवेति । शिष्यम्=स्वकर्मभयम्, इन्द्र-
 जालमिच्छता भयोऽर्थवना अनेनेति मित्रिार्थः । तत्त्व=वीतरागस्य
 निर्मलस्याऽर्थः, नमस्कार=प्रणाम उपसङ्गताद्भक्तिरित्यर्थः ।
 कर्तव्य=विषयः रागादिमांसु स्वप्नसिद्ध इति तत्त्व नमस्कारो
 सिद्धाय भक्तिर्भवति । यदुक्तम्—‘मान्दस्तीर्त्तानि दृष्टत्वं मयैकमेव
 तारकम् । उच्छ्वाज्ज्वा विज्ज्वाऽसि भावः । तारय तारये”ति भावः
 ॥ ३८ ॥

तदेवं गुणतो ब्रह्मात्मकत्वं प्रतिपाद्य शब्दतत्त्ववास्तव्यम्—

अकारेण भवेद्विष्णु रेफे ब्रह्मा व्यबस्थितः ।

हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्माज्जन्ते परमं पदम् ॥ ३९ ॥

अकारेणेति । अकारेण=कण्ठध्वन ह्रस्वसरेणाऽक्षररूपे

“अह” इत्यक्षरघटकेन प्रथमवर्णेनेत्यर्थः । विष्णुः=विष्णुस्त्वक-

भवेत्=स्यात् । अह इति पदमिति शेषः । विष्णुवाचकऽप्युक्तत्वात्

वकारसत्त्वादहं इतिपदघटकोऽकारः स्वघटितनामलक्षकनामैकदेशवत्
 स्वघटितपदलक्षक इति भवति 'अहं' इति पदमच्युतात्मकम् । अच्यु-
 तश्च विष्णुपर्याय इति सुष्ठूक्तं "मकारेण भवेद्विष्णुरिति" । "अकारो
 वासुदेव स्यादि" त्येकाक्षरकोपाच्चेति बोध्यम् । एवञ्च "अहं" इति-
 पदं शब्दतो विष्ण्वात्मकमिति समाहितम् । रेफे='अहं' इत्यक्षरघटक-
 रेफे, ब्रह्मा=ब्रह्मवाचको ब्रह्मशब्द, व्यवस्थितः=व्यवस्थया स्थितः ।
 व्यवस्था चाऽवयवेऽवयविन. समवेतत्वस्य प्रसिद्धत्वाद्व्यशब्दः स्वघटक-
 रेफवृत्ति, स रेफश्च "अहं" इति पदस्थरेफेणाऽनुकृत इत्यनुकार्या-
 ऽनुकारणयोरभेद इत्येव रूपा । यद्वोक्तन्यायेन रेफो रेफघटितब्रह्मपद-
 लक्षक इति रेफे ब्रह्मा व्यवस्थित इत्युच्यते । एतेन शब्दतो ब्रह्मा-
 त्वत्वं प्रदिपादितमवगन्तव्यम् । तथा, हकारेण="अहं" इतिपद-
 घटकेन महाप्राणेन वर्णेन, हर = महेश्वरः, प्रोक्तः=प्रतिपादित,
 तत्प्रतिपादनं चाऽकारेण विष्णुवदेति न विस्मर्तव्यम् । नन्वेवमर्हतस्त्रया-
 त्मकत्वं शब्दत उपपादितमेवेति "अहं" इत्यक्षरे उपरिस्थितस्याऽनु-
 नासिकस्य किं प्रयोजनमिति चेत्तत्राह—तस्येति । अहं इतिपदे-
 ऽकारोत्तररेफोत्तरवर्त्तिहकारस्येत्यर्थः । अन्ते=पर्यवसाने, विराम इत्यर्थः ।
 उपरीति यावत् । परमम्=सर्वोच्चत्वात्सुदुर्लभत्वात्सिद्धैरेव प्राप्यत्वाच्च
 सर्वान्तिमम्, पदम्=स्थानम्, ईषत्प्राग्भाराख्यमित्यर्थः । नहि तत्
 उपरि किञ्चित्पदमिति तत्परममेव पदं भवति । तदाकारश्चाऽर्धचन्द्रा-
 कृतिरनुनासिकरेखातुल्य, बिन्दुश्च तत्स्थसिद्धाऽनुकृतिः । एवञ्चाऽनु-
 नासिको रेखागवयन्यायेन सिद्धशिलाऽनुकृतिरर्हतो ब्रह्माद्यपेक्षयाऽप्युच्च-

सहोदरमि"ति । अत एव, पुण्यपापविनिर्मुक्तं=पुण्यपापविनिर्मुक्तं
 विदितकर्मजनैः पापैस्तदास्त्यैर्निपिद्वर्त्मजनैश्च कर्मभिः, शुभैरुभयै
 स्पर्म । विनिर्मुक्तो रहित, शून्य इत्यर्थः । वीतरागतास्तोऽतस्तत्
 कथाऽऽत्मवत्समित्पारम्पर्याभां क्षमाय । यदुक्तम्— 'अथर्ववे
 मतिना धर्मिना समवर्तिना । त्वया काममकुञ्चन्त कुटिलं व
 कण्टका" इति, "अनन्तकामचित्तमनन्तमपि सर्वम् । तच्छेदय
 कर्मकण्डमुन्मूलयति मूलम्" इति च । न ह्यन्ये देवे वीतरा
 दारादिपरिमहद्वैरिन्निष्कारिसद्भावाविति सर्वविशुद्धतात्सर्वोत्तमोऽर्थो
 भावः । तस्मादेतोरित्यर्थबलात्तन्वते । शिवम्=स्वकल्याणम्, इ
 =अमिकल्पता, ज्ञेयोऽर्जिता अनेनेति मिथितार्थः । तत्त्व=वीतर
 निर्मलस्याऽर्थतः, नमस्कारः=प्रणाम उपसङ्गमत्वाद्भक्तिरित्य
 कर्तव्यम्=विषयः, रागादिमांसु लयमस्ति इति तस्य लयमन्ता
 स्तिवाय भक्तिर्भवति । यदुक्तम्— "अन्तर्हीनानि हृदस्तं नये
 धारकः । तच्छाश्वदी विष्णोऽसि नाव । धारय धारये"ति
 ॥ १८ ॥

तदेवं गुणतो ब्रह्माद्यात्मत्वं यत्तिपाद्य सम्बन्धतत्त्वज्ञानमन्त्रम् =

अकारेण भवेद्विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।

हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्याऽन्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥

अकारेणेति । अकारेण=कण्ठ्येन हलसरेणाऽ=

'अह' इत्यक्षरपटकेन प्रथमवर्गेनेत्यर्थः । विष्णुः=विष्णु

भवेत्=स्वात् । अह इति पदमिति शेषः । विष्णुवाचकेऽ=

किं स्वरूपमिति बोध्यम् । अर्हत इति प्रस्तावाल्भ्यते । एवञ्च
केवल ज्ञान जानानामादिभूतमात्मस्वरूपत्वात्, मत्यादिकं ज्ञानध्वोपा-
यित्वादागन्तुकत्वात्परवर्तीति तदादिभूत ज्ञानमकारेण मातृकापाठे-
ऽर्हच्छब्दे चाऽऽदिभूतेन लक्ष्यते, तदाह—अकारः= इति । तेन=
आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकत्वेन केवलज्ञानस्वरूपत्वेन चाऽर्हतः ।
अकारः=अर्हन्निदिपदघटकोऽकार, प्रोच्यते=कीर्त्यते । सर्वप्रथमं
धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः केवलज्ञानवाश्चाऽर्हन्नेवेत्यादिभूतोऽकारो
लक्ष्यत्यर्हत्पदघटक इति सारार्थः । एतद्वैशिष्ट्यं चाऽर्हत्येव नाऽन्यत्रेति
स एव नमस्करणीयो नाऽन्योऽनीदृश इति हृदयम् ॥ ४० ॥

अथाऽर्हत्पदघटक रेफं निरूपयन्नाह—

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।

दृष्ट लोकमलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

रूपीत्यादि । ज्ञानेन=मतिश्रुत्यवध्यात्मकेन, तद्रूपेणेत्यर्थः ।

चक्षुषा=नेत्रेण, न तु चर्मचक्षुषा, रूपिद्रव्यस्वरूपम्=रूपि मूत्त^६
यदद्रव्यमणुस्कन्धमेदमिन्नपुद्गलात्मकं द्रव्यं तस्य यत्स्वरूपमुत्पादव्यय-
प्रौव्यात्मकं समान्यविशेषनित्याऽनित्यत्वसदसत्त्वाऽमिलाप्याऽनमिलाप्यत्व-
मेदामेदाद्यनन्तधर्मात्मकत्वादानेकान्तात्मकं च तत्त्वम्, दृष्ट्वा=ज्ञात्वा,
ज्ञानचक्षुषा हि दर्शनं ज्ञानमेवेति बोध्यम् । वा=तथा, अनन्तरमिति
शेषः । लोकम्=चतुर्दशरज्जुप्रमाणमवगाढधर्मादिद्रव्योपाधिकाऽऽकाश-
प्रदेशात्मकम्, लक्षणया तत्स्थ त्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायम्, अलोकम्=
लोकाद्वहिर्भूतमाकाशम्, वेति=समुच्चये । दृष्टम्=ज्ञातम् । ज्ञानेन

स्थानस्य त्वं ध्वनति । तादृशपदस्याद्य न प्रसादय इत्यस्ति मन्त्रे
इति ह्रस्वम् । एतेनार्हः स्रज्ज्वलन्वात्मत्वं समाहितम् ॥ ३० ॥

अथाऽर्हमिति पञ्चमटकाऽकाराद्विर्णमवृत्तिनिमित्तविरमेन ह्रस्व-
ऽर्हत्पर्यायगौरवं प्रकटयन्नाह—

अकार आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेष्टुका ।

स्वरूपं परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥

अकार इति । अकारः=अर्हमिति पञ्चमं प्रथमोऽकारस्तस्यै-
वर्णं, आदिधर्मस्य=आदिधर्मस्य आदौ उपदिष्टत्वात्प्रथमादादि-
प्रथमस्य ये धर्मा वाच्योक्तपोमात्मरूपं तस्य, बहुलम्—“दान-
धीकृतपोमात्ममेवादूर्ध्वं कतुर्विधम् । मन्त्रे युगात्प्रत्यक्षं कतुर्विधोऽयम्-
इति । मोक्षस्य=सर्वधर्मस्य बन्धमुक्ते, अत्रापीतिरिति ह्रस्व-
स्वरूपत्वात् मोक्षस्य मुख्यत्वं सर्वधर्ममर्हतेत्येवंप्रदेष्टाप्ताद्युपदेष्टात्प्रो-
धारत्वादित्ये बोध्यम् । अकाराद्विर्णमवृत्तिसमुच्चयः, अर्हत्ता युगात्प्रो-
सर्वधर्ममनुपविष्टत्वात् । प्रदेष्टुका=प्रतिपाद्यक उपदेष्टुका । अकारो-
हि मातृकापाठे सर्वाद्विरिति सोऽर्हत्पञ्चमटक आदिधर्मस्य मोक्षस्य
सकलसाक्षात्कीर्णं चाऽऽद्युपदिष्टानां ह्रस्वकः । सुप्रसूतो ह्यर्हन् पत्नम्
माया धर्मं मोक्षं कल्यणसाक्षादिकं चोपदिष्टवानिति मातृकापञ्चमटका-
ऽर्हत्पञ्चमटकेनाऽकारेण व्यस्यते इति परमार्थः । अत्र, स्वरूपम्=प्रत्यक्ष-
न्यायगतम् परमज्ञानम्=केवलब्रह्मज्ञानरूपम् केवलज्ञानस्य हि
सर्वधर्मपर्याया विन्यासो भवत्येवेति तदेव परमं ज्ञानम्, तदेव च
निराकारमात्मन्यवस्थितं शुद्धात्मा शुद्धगुणितोरमेदनये आत्मनः पारम्-

भिक स्वरूपमिति बोध्यम् । अर्हत इति प्रस्तावालभ्यते । एवञ्च
केवलं ज्ञान ज्ञानानामादिभूतमात्मस्वरूपत्वात्, मत्यादिकं ज्ञानञ्चौपा-
धिकत्वादागन्तुक्त्वात्परवर्तीति तदादिभूतं ज्ञानमकारेण मातृकापाठे-
ऽर्हच्छब्दे चाऽऽदिभूतेन लक्ष्यते, तदाह—अकारः= इति । तेन=
आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकत्वेन केवलज्ञानस्वरूपत्वेन चाऽर्हतः ।
अकारः=अर्हन्निदिपदघटकोऽकारः, प्रोच्यते=कीर्त्यते । सर्वप्रथमं
धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः केवलज्ञानवाश्चाऽर्हन्नेवेत्यादिभूतोऽकारो
लक्ष्यत्यर्हत्पदघटक इति सारार्थः । एतद्वैशिष्ट्यं चाऽर्हत्येव नाऽन्यत्रेति
स एव नमस्करणीयो नाऽन्योऽनीदृश इति हृदयम् ॥ ४० ॥

अथाऽर्हत्पदघटकं रेफ निरूपयन्नाह—

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।

दृष्ट लोकमलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

रूपीत्यादि । ज्ञानेन=मतिश्रुत्यवध्यात्मकेन, तद्रूपेणेत्यर्थः ।
चक्षुषा=नेत्रेण, न तु चर्मचक्षुषा, रूपिद्रव्यस्वरूपम्=रूपि भूत^६
यद्द्रव्यमणुस्कन्धमेदभिन्नपुद्गलात्मक द्रव्य तस्य यत्स्वरूपमुत्पादव्यय-
प्रौढ्यात्मक समान्यविशेषनित्याऽनित्यत्वसदसत्त्वाऽभिलाष्याऽनमिलाप्यत्व-
भेदाभेदाद्यनन्तधर्मात्मकत्वादनेकान्तात्मकं च तत्त्वम्, दृष्ट्वा=ज्ञात्वा,
ज्ञानचक्षुषा हि दर्शनं ज्ञानमेवेति बोध्यम् । वा=तथा, अनन्तरमिति
शेषः । लोकम्=चतुर्दशरज्जुप्रमाणमवगाढधर्मादिद्रव्योपाधिकाऽऽकाश-
प्रदेशात्मकम्, लक्षणया तत्स्थ त्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायम्, अलोकम्=
ल्लेकाद्वहिर्भूतमाकाशम्, वेति=समुच्ये । दृष्टम्=जातम् । ज्ञानेन

अक्षुप्तेष्वनुपज्यते । अत्र य ज्ञानं केवलमस्वम्, तस्मै सर्वधर्मै-
परिच्छेदकत्वमिति ज्येष्ठम् । तेन=स्वप्तिव्यस्यवर्षदक्षिणमेघ श्लेष्-
श्लेष्कवर्षनेन हेतुना, रक्षारः=वर्षात्पटको रेफः, प्रोच्यते
कीर्त्यते । वर्षात्पटको रेफो बुधकृष्णतया रेफमहितस्वप्तिव्यस्यव-
द्रव्यतत्त्वज्ञानकमेणाऽर्हतो श्लेषश्लोकज्ञानं ज्ञानकीर्तिं सात्त्विकम् । अर्हते
हि चन्मसो ज्ञानत्रयवैशिष्ट्यम्, वीक्षाग्रहणामन्तरं य ज्ञानाद्विद्य-
धातिर्धर्मकमे सति केवलमेतस्या सर्वज्ञानमित्येवमर्थं रेफो लक्ष्यते ।
नाऽन्वो रेव एवं गुणविशिष्ट इति यावत् ॥ ४१ ॥

अथाऽर्हत्पटको हकारं निर्वकि—

हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरिपहाः ।

हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥

हता इति । येन=कर्मक्षरेण शुक्लाद्भुतपुण्यशक्तिना, अर्हति
यावत् । रागाः=विषयाऽभिलाषा, आत्मनिजेष्वास्तव्य इत्यर्थः ।
बहुवचनं साकस्मेन रागपरिग्रहार्थम् अर्हति रागस्तेष्वस्याऽप्यन्वावात् ।
एवमप्येऽपीति बोध्यम् । द्वेषाः=अनिष्टेष्वधीतयः आद्वयं=समुच्चये ।
हता=विनाशिता सर्वथा त्यक्ता इत्यर्थः । वीतरागो मज्जत्य इति
यावत् । बहुवचनं— सुखे दुःखे मये मोक्षे यदौदासीन्यमीक्षिते ।
तदा वैराग्यमेवेति कुत्र नाऽसि विराग्यानि 'सि यथा मरुतरेन्द्र
प्रीत्यया नाभ्योप्सुज्यते । यत्र सव रतिर्नाम विरक्तस्य स्यासि ते' इति
मन मोक्षजन्या कल्याणपीडा । समाभिमाभ्यस्यमुगाविशोऽपी' इति
श्रुतिः । तथा, अत एव, मोहपरिपहा=मोहा अनात्म्यु देहपनशरा-

जारादिषु ममत्वानि, परीषहाः क्षुत्तृष्णादयो द्वाविंशतिविधाः परीषह-
पदवाच्याश्च, हताः=विनाशिताः, मोहास्त्यक्ता परीषहाश्च सहिता
इत्यर्थः । मोहस्य त्यागः परीषहस्य सहनं च नाशस्तयोरिति बोध्यम् ।
यस्य च न रागद्वेषौ तस्यैव मोहादिजय इति भावः । तथा, कर्माणि=
शुभाऽशुभात्मकानि सर्वाण्येव पापपुण्याभिधानान्यास्रवजन्यानि कर्माणि,
हतानि=परिशाटितानि, यदुक्तम्—“ अनन्तकालप्रचितमनन्तमपि
सर्वथा । त्वत्तो नाऽन्यः कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलतः ” इति । तेन=राग-
द्वेषमोहपरीषहकर्महननेन हेतुना, हकारः=अर्हत्पदघटको हकाररूपो
वर्णः, प्रोच्यते=वर्ण्यते । अर्हत्पदघटको हकारोऽर्हतो रागादिहननं
लक्षयति, दारपरिग्रहादिना नाऽन्यो देव ईदृश इति हृदयम् ॥ ४२ ॥

अथाऽर्हन्नितिपदान्तस्थ नकार निर्वक्ति —

सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्णं प्रतिहार्याष्टकेन च ।

ज्ञात्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥

सन्तोषेणेति । पुण्यम्=शुभं कर्म, पापम्=अशुभं कर्म, च=
द्वयं समुच्चये । ज्ञात्वा=विवेकेन परिच्छिद्य, इदं पुण्यमिदं पापमित्येवं
विविच्येत्यर्थः । सन्तोषेण=आत्मरत्या, तृष्णोपरमेणेत्यर्थः । उपशमेनेति
यावत् । अभिसम्पूर्णं =सम्भृतं, आत्मरमणात्सर्वथा तुष्टमनोवृत्ति-
रित्यर्थः । असन्तोषात्परिग्रहादिप्रवृत्ते पुण्यपापाऽनुबन्धाद्भवपरम्परात्मक-
दुष्परिणामाऽनुषङ्ग इत्यतो विषयविरक्त उपशान्ततृष इति परमार्थः ।
तथा, प्रातिहार्याष्टकेन=प्रातिहार्याणां द्वा स्थ इव समवसरणस्थेऽर्हति
नियतस्थितीनां तथाख्यातानां चैत्यपादपच्छत्रदुन्दुभ्यादीनामष्टकेना-

ऽष्टतया, उपसृज्यतयात्तद्भाषतिशयेन च, येनाऽस्मिन्पूर्वं इत्यु-
 ज्यते, समन्वित इत्यर्थः । यदुक्तम्—“एतां धमत्तरकरीं प्राप्तिर्हार्मि-
 त्वं । विप्रीयन्ते म के हृदा नाय । मित्याद्योऽपि ही” इति । तेन-
 पुण्यपापविवेकस्तोषपतिहार्मापतिशयसंशयन हेतुना, नकारा-
 त्याकारकमद्यन्तस्यो नकारस्यो बर्षं प्रोच्यते=परिच्यते । अर्धक्षि-
 तसद्वपटका नकारोऽर्धत पुण्यपापतत्त्वज्ञानं सन्तुष्टं प्राप्तिर्ह-
 ममूलमिन्द्रियविराजितं च व्यनक्षीति इत्यम् ॥ ४१ ॥

तदेवमुक्तमपरेणाऽर्धमेव सन्दर्शोऽर्धो गुणतश्च त्रिभो भवेत्तो
 आदेव एकमूर्तिरष्टमूर्तिष्वेत्युपपाद्य “गुणा पूजास्वानं गुम्बिषु म च
 छिद्रं न च क्व” इत्युक्त्यनुसारेण स्वस्य तादृश्ये व्यञ्जकपुरस्मि-
 हीर्षुर्बीतरागं नमस्करोति—

मन्मथीञ्जाऽङ्कुरजनना दगादयःश्वयसुपगता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णु र्वा हरो त्रिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति कश्चिदात्मवर्षाधीमेकत्राचार्यविरचित-

॥ श्रीआदेवस्तोत्रे सम्पूर्णम् ॥

मन्मथीञ्जाङ्कुरजनना इति । यस्य=आत्मस्य देवस्य, मन्मथीञ्जा
 ङ्कुरजननाः=आत्मस्य कर्मफलद्वेत्युक्तजन्ममरणादेव येनाङ्कुरस्य बीजं
 कारणं तदात्मको योऽङ्कुरो बीजपरोदस्तस्य बीजं ङ्कुरजननेन
 उत्पत्तिम् बीजाङ्कुरस्तु पश्यन्ति युजिस्तस्य सन् पुनःपुनर्बीजं कच्छतीति
 मन्मथमगाथा इत्यर्थः । अन्यस्य परिचयिणि वचना हेतुना तादृश इत्यर्थः,
 रामाद्याः=राष्ट्रकेसरीहकवाममभुवन आसन्वा इति वाक्यम् । आसन्वा

हि भवपरम्परानिदानकर्मबन्धहेतवः, यदुक्तम्—“आप्तवो बन्धहेतुः
स्यादि”ति बोध्यम् । क्षयम्=नाशम्, उपगताः=प्राप्ताः, रतत्रयाऽऽ-
राधनादिना भवपरम्पराहेतवो रागाद्या यस्य नष्टा, स तादृश इति
सार्थम् । ब्रह्मा=तदाख्यो देव, विष्णुः=तदाख्यो देव, हरः=
तदाख्यो देव, महादेव इति परतीर्थिकप्रसिद्धः । जिनः=वीतरागो-
ऽर्हन्, सर्वत्र वाकारोऽनास्थायाम् । न व्यक्तिविशेषे आग्रहः, किन्तु
यो वीतराग, तस्मै=तादृगाय वीतरागाय, नमः=नमस्कारः, अस्तु
ममेति शेषः । ब्रह्मादीनाञ्चोक्तप्रकारेण ढारादिपरिग्रहेण वीतरागत्वाऽ-
भावज्जिन एव वीतराग इति तस्मा एव नमः । ब्रह्मादयोऽपि चेत्तथा-
स्युत्तर्हि तस्मा अपि नमः, यतो गुणा पूजास्थानमिति भावः ॥ ४४ ॥

पण्यासकीर्तिचन्द्रेण कृता कीर्तिकलाख्याया ।

व्याख्येयं श्रीमहादेवस्तोत्रसार्थबोधिनी ॥ १ ॥

वत्सरे वैक्रमे सेय रसेन्दुव्योमलोचने ।

पूर्णा वसन्तपञ्चम्यां महादेवाऽर्हणाऽस्तु मे ॥ २ ॥

पण्णां श्रीहेमचन्द्रेण निर्मितानां पृथङ्गया ।

स्तोत्राणां निर्मिता व्याख्या हिन्द्या चाऽमरभाषया ॥ ३ ॥

द्वाविंशिकाद्वयी पूर्वं वीतरागस्तवस्ततः ।

पुनः सकलार्हस्तोत्रं वीरस्तोत्रसमन्वितम् ॥ ४ ॥

तदनु श्रीमहादेवस्तोत्रमेवं क्रमान्मया ।

ख्यातानां निर्मितैतेषां व्याख्या लोकोपयोगिनी ॥ ५ ॥

श्राम्यन्तु सन्त उत्सर्गं मत्वेह स्तुतिं यदि ।

मोदतां नीलकण्ठः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥ ६ ॥

शक्तिरस्तु महादेवे वाचकानां सुनिबला ।

श्रीयास्कीर्तिकला लोकमोदसन्दोहसत्फला ॥ ७ ॥

शिष्येण सुनिबन्धेण चन्द्रेण सुनिभाऽसिधु ।

छायतां पूर्वकामेन विभावत ममाश्रये ॥ ८ ॥

गुरुषः कस्तूराख्याः धूमिष्ठा यदयाचसतः ।

कृतकृत्योऽहमिहाऽस्मि शरणं ते वोढयागाम ॥ ९ ॥

इति कस्मिन्काकसर्वज्ञश्रीहिमन्त्राचार्यविरचिते श्रीमहादेवस्तोत्रे
 उपो गच्छाऽपि पतिसासनसमाह्वयम्भिरिदम्भनेकतीर्थोद्धारकमात्मस
 चार्याचार्यकर्मश्रीमद्विजयनेमिसुरीधर पञ्चकहास-समयकृतान्तमूर्त्यार्चा-
 र्कर्मश्रीमद्विजयनिशानसुरीधर पञ्चरसिद्धान्तमाहोदधिमाह्वयमिहिसारदा-
 चार्यकर्मश्रीमद्विजयकस्तूरसुरीधर-शिष्य पन्यासश्रीश्रीतिवन्द्यमित्रकामि-
 निरपिता कीर्तिकलाख्या व्याख्या समाप्ता ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ छुमे भवतु ॥

॥ अहम् ॥

॥ पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचितकीर्तिकला-
व्याख्यासहितानि पुस्तकानि ॥

१. द्वात्रिंशिकाद्वयी—(क स श्रीहेम. विरचिताऽयोगव्यवच्छेद-
द्वात्रिंशिकाऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका च) कीर्तिकला-
संस्कृतव्याख्यासहिता ।
२. द्वात्रिंशिकाद्वयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।
३. श्रीवीतरागस्तवः—क. स. श्रीहेम विरचितः कीर्तिकला-
संस्कृतव्याख्यासहितः ।
४. श्रीवीतरागस्तव —कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहितः ।
५. स्तोत्रत्रयी—(क स श्री हेम विरचिता) कीर्तिकलासंस्कृत-
व्याख्यासहिता ।
६. स्तोत्रत्रयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहित ।

प्राप्तिस्थानः

श्री जनकलाल कान्तिलाल ।

लिम्बडीशेरी पेटलाद

वाया - आणद । (गुजरात)

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सुरसिद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगाणिविरचित-

कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहितम् ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र नामके महाप्रबन्धका प्रारम्भ करते हुए - उक्त महाप्रबन्धकी निर्विघ्न समाप्ति हो - इस कामनासे मगलाचरण रूपमें सकलार्हत्स्तोत्रकी रचना की थी । जिसमें चौबीस तीर्थकरोंकी स्तुति करते हुए आदिमें आर्हन्त्य - तीर्थकरत्व - तीर्थकरके असाधारणभाव - तीर्थकरपनकी स्तुति करते हैं—

सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।

भूर्भुवः स्वस्त्रयीशानमार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

पदार्थ—सकलार्हत्प्रतिष्ठानम्=सकल - सर्व, अर्हत् - तीर्थ-
कर, प्रतिष्ठा = पूजाके निमित्तभूत । सकलतीर्थकरोंकी पूजाका
हेतुभूत - जिसके होनेसे तीर्थकर पूजित होते हैं, वह असाधारण

तथा अलौकिक भाव । अथवा सकल तीर्थकर प्रतिष्ठान आत्मन ई
 विसंके ऐसा, सकल तीर्थकरोमें रहनेवाले, तथा, शिवभियाः=शिव
 कस्याण मोक्ष, श्री लक्ष्मी समृद्धि, कस्याण वा मोक्षसंपदाभ्योः,
 अभिष्टानम्=प्राप्तिका साधनहोनेसे आभयमृत, तथा, भूर्भुवः-
 स्वस्वपीशानम्=सूर्य मागल्लोक, सुवर् मर्त्यलोक, स्वर् स्वर्गलोक
 इन्तीनों ओकोंके स्वामीके जैसे सम्बिष्ट, आर्हन्त्यम्=मार्हन्त्य
 तीर्थकरत्वं तीर्थकरण तीर्थकरोके असाधारण एवं अलौकिक
 अतिशय तथा केवलज्ञान आदि गुणरूप भाव का, प्रणिदध्महे=प्रणिधान
 मन बधन, तथा शरीरसे तादृश्यकी साधना करता हूँ - ध्यान
 करता हूँ ॥ १ ॥

अथवा—तीर्थकरोक सहस्र आदि अतिशय तथा केवलज्ञान
 आदि असाधारण एवं अलौकिक गुणरूपी भाव, जो उन तीर्थकरोकी
 योगोंसे की गयी पूजाके दत्त हैं तथा शुभसम्पदाओं एवं मुक्ति
 लक्ष्मीसे प्राप्तिके साधन हैं, तथा स्वर्ग-मर्त्य-वाताल्लोकोंके स्वामीके
 जैसे सर्वोत्कृष्ट हैं अथवा तीनों ओकोंके स्वामित्वका साधनरूप हैं,
 मैं उन गुणों आर्हन्त्यका ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

नामाऽऽकृतिद्रव्यमायैः पुनस्तत्रिजगन्जनम् ।

येन काले च सर्वस्मिन्मर्दताः समुपास्महे ॥ २ ॥

पदार्थ—सर्वस्मिन्=सभी, येन=सेनो स्थानमें, च=तथा,
 काले=कालमें, तीनों ओपों तथा तीनों जगत्में, त्रिजगन्जनम्=

त्रि - तीन, जगत् - लोक, जन - प्राणी, सामान्यरूपसे तीनों लोकोंके प्राणियोंको, नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः=नाम - ऋषभ, महावीर आदि नाम, आकृति - तीर्थङ्करोकी प्रतिमा, द्रव्य - तीर्थङ्कर होनेवाले जीव, भाव - अतिशय, केवलज्ञान आदि भावसे युक्त तीर्थङ्कर, ऋषभ महावीर आदि नामोंसे, प्रतिमा आदि रूपसे, तीर्थङ्करभावरहित ससारी अवस्थासे तथा तीर्थङ्कर रूपसे, पुनतः=(स्मरण, दर्शन, सेवा तथा उपदेश आदिके द्वारा) पवित्र करनेवाले, अर्हतः=अरिहन्तों - तीर्थङ्करोकी, समुपासहे=उपासना करता हू ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सभी क्षेत्रों तथा सभी कालोंमें तीनों लोकोंके प्राणियोंको उनके द्वारा किये गये तीर्थङ्करोके - नामस्मरण, प्रतिमा आदिके दर्शन, वन्दन, ससारी अवस्थामें सेवा, उपदेशोंका श्रवण तथा पालन आदिसे चित्तशुद्धि होनेके कारण - पवित्र करते हैं। मैं उन तीर्थङ्करोकी भक्तिभावपूर्वक तन, मन तथा वचनसे उपासना करता हूँ। (जिससे दूसरोके जैसे हों मेरे चित्तकी शुद्धि तथा इष्टसिद्धि हो। क्योंकि चित्तशुद्धिके बिना कोईभी शुभकाम सागोपाग पूरा नहीं हो सकता - ऐसा अभिप्राय है) ॥ २ ॥

आदिम पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।

आदिमं तीर्थनाथ च ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥

पदार्थ—आदिमम्=सर्वप्रथम, पृथिवीनाथम्=पृथिवीके नाथ - ईश - राजा - पालक, राजाओंमें सर्वप्रथम, आदिमम्=सर्वप्रथम, निष्परिग्रहम्=निष्परिग्रही - स्त्री, पुत्र, राज्य आदि परिग्रहोंसे

रहित सर्वस्वके त्याग करनेवाले, त्यागियोंमें सर्वप्रथम व=वप, आदिमम्=सर्वप्रथम, तीर्थनाथम्=तीर्थहर, तीर्थहरोमें सर्वप्रथम, ऐसे, अपमस्वामिनम्-भीष्मपमनाथकी, स्तुताः=मै स्तुति करता ह ॥ १ ॥

भावार्थ—जो राजाओं त्यागियों तथा तीर्थहरोमें सर्वप्रथम है, मैं ऐसे भीष्मपमनाथकी स्तुति करता हूँ । (सुगादिमें इन्द्रादि देवोंने लोककी व्यवस्थाके लिये भीष्मपमनाथका राज्याभिषेक किया था । इसलिये पृथिवीमें वे ही सर्वप्रथम राजा हुए थे । तथा लोक-व्यवहारका प्रवर्तन किया था । एवं कर्मसे ही तीनों ज्ञानोंसे युक्त होनेके कारण तथा श्रेष्ठान्तिक देवोंकी प्रार्थनासे तीर्थप्रवर्तनके लिये सर्वप्रथम त्यागकर मोक्षप्राप्तिकी मात्नासे भीष्मपमनाथने ही सर्वप्रथम दीक्षा लीची तथा कतुर्विध धर्मका उपदेश देकर कतुर्विधमय तीर्थ का स्थापन किया था । इसलिये सर्वप्रथम तीर्थहर भीष्मपमनाथ ही हैं—यह ध्यान देने योग्य है) ॥ ३ ॥

अर्हन्तमसितं विश्वकमलाकरभास्करम् ।

अम्बानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

वार्थ—विश्वकमलाकरभास्करम्=विश्व जगत्कृपी कम-
लकर कमलके भास्कर-साग-समूह, भास्कर सूर्य, विश्वकी
कमलमूहोंके लिये सर्वसमान, अम्बानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्त
जगतम्=अम्बान-म्बान-मणि नहीं ऐसा बनि स्वच्छ तिगुद्ध,
केवल केवलज्ञान आदर्श दर्पण सङ्क्रान्त मणिविधित, गोचर

जगत् विश्वके सर्वद्रव्यपर्याय, जिनके अत्यन्त स्वच्छ ऐसे केवल-
ज्ञानरूपी दर्पणमें सर्वद्रव्यपर्याय प्रतिबिम्बित - गोचरीभूत है ऐसे,
अर्थात् जैसे स्वच्छ दर्पणमें सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे
जिनके विशुद्ध केवलज्ञानके सभी पदार्थ विषय हैं—जो केवलज्ञानके
द्वारा सभी पदार्थोंके जाननेवाले—सर्वज्ञ हैं। अर्हन्तम्=अरिहन्त,
तीर्थङ्कर, अजितम्=श्रीअजितस्वामिकी, स्तुवे=(मै) स्तुति करता हूँ
॥ ४ ॥

भावार्थ—विश्वरूपी कमलाकरके प्रबोधित करनेमें सूर्यसमान,
अर्थात् जैसे सूर्य कमलसमूहोंको प्रबोधित - विकसित करते हैं, वैसे
ही विश्वके प्रबोधित करनेवाले - विश्वको सन्मार्गका प्रबोध देनेवाले,
तथा जिनके अत्यन्त स्वच्छ ऐसे केवलज्ञानरूपी दर्पणमें सम्पूर्ण विश्व
प्रतिबिम्बित - गोचरीभूत है, अर्थात् जैसे स्वच्छ दर्पणमें सभी
पदार्थ स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित होते हैं अथवा जैसे स्वच्छ दर्पण
अत्यन्त स्पष्टरूपसे सभी पदार्थोंके प्रतिबिम्बका ग्रहण करता है, वैसे
ही जिनके विशुद्ध केवलज्ञानमें सभी द्रव्य तथा उनके पर्याय प्रति-
बिम्बित - गोचर हैं, अथवा जो विशुद्ध केवलज्ञानके द्वारा स्पष्टरूपसे
सभी पदार्थोंका ग्रहण करते हैं - सभी पदार्थोंको जानते हैं, अर्थात्
जो सर्वज्ञ हैं, ऐसे तीर्थङ्कर श्री अजितस्वामीकी मैं स्तुति करता हूँ।
(यह - जो सर्वज्ञ हैं, तथा सम्पूर्ण विश्वके उपकारक हैं, उनकी
स्तुतिसे ही इष्टलभ हो सकता है—ऐसा ध्वनि है) ॥ ४ ॥

विश्वभगव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ताः ।

देशनासमये वाचः श्रीसम्भवजगत्पतेः ॥ ५ ॥

परार्थ — देखनासमये = (समस्तसरणमें) देखना देनेके सरण में, ताः = आगमोंमें वर्णित, मसिद्ध, वह, विश्वमन्त्रपञ्चनाऽऽप्त-
 कुस्यातुस्याः = विश्व-वर्ण, सभी मन्त्रजन मन्त्रपाणी मुक्ति
 योग्यतावाले आराम-उपवन बगीचा, कुस्या नाभी वा,
 दुस्व-समान । विश्वके सभी मन्त्रपाणीरूपी उपवनकी नाभीके समान
 श्रीसम्भवजिनस्पति = ब्रह्मपति ब्रह्मदीश्वर तीनों लोकोंके स्वामी
 ऐसे जिनेश्वर श्रीसम्भवजिनकी वाणी = वाणी प्रवचन, उपदेश,
 व्रयन्ति = सर्वोच्छ्रित हैं ॥ ५ ॥

मातृवर्ध — (वैसे मास्त्रियोंके द्वारा सत्त सिक्कसे उपस्वके
 वृद्ध कृता आदिक्रम पोषण एवं उसकी वृद्धि होती है वैसे ही देवना-
 समयमें जिनकी वाणीसे विश्वके सभी मन्त्रात्मा विचित्रवृद्धिरूप पोषण
 एवं सम्पद्गन्धान आदिकी वृद्धि प्राप्तकरते हैं, अत एव) देवनासमये
 विश्वके सभी मन्त्रपाणीरूपी उपवनके सिधे नाभी समान ब्रह्मके
 स्वामी श्रीसम्भवजिनकी वाणी विजय प्राप्तकरती है सर्वोच्छ्रित है ।
 (यहां जिससे सम्पद्गन्धान प्राप्तहो तथा जो आत्मकमन्त्र प्रेरण करे,
 वही वाणी सर्वोच्छ्रित है ऐसा भवति है) ॥ ५ ॥

अनेकान्तमताम्भोषिसमुद्धासनचन्द्रमा ।

इषादमन्दमानन्दं भगवानभिनन्दनः ॥ ६ ॥

परार्थ — अनेकान्तमताऽम्भोषिसमुद्धासनचन्द्रमा = अने-
 कान्त मत मन्त्रेक्यपरार्थमें अनन्तधर्मोंके प्रतिपादन करनेवाली मन्त्र
 सिद्धान्त दर्शन = स्वाहादर्शन अम्भोषि समुद्र, समुद्धासन

उलसितकरना - बढ़ाना - विकसितकरना, चन्द्रमा-चन्द्र । अनेकान्त-
मत्सुपी समुद्रके बढ़ानेमें चन्द्रसमान, भगवान्=भग - ऐश्वर्य, धर्म,
तप, ज्ञान, वैराग्य, अतिशय । सभी प्रकारके सहज आदि अतिशयसे
युक्त, अभिनन्दनः=तीर्थकर श्रीअभिनन्दनस्वामी, अमन्दम्=
अत्यधिक, अनन्त-शाश्वत एव अखण्ड, आनन्दम्=आनन्द,
दद्यात्=देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—(जैसे चन्द्र समुद्रके समुल्लास - वृद्धि - भरतीका
कारण है, वैसे तीर्थकर स्याद्वादसिद्धान्तके समुल्लास - वृद्धि-प्रचारके
कारण हैं, क्योंकि वे ही स्याद्वादसिद्धान्तके उपदेशक हैं । इसलिये)
स्याद्वादर्ूपी समुद्रके समुल्लास केलिये चन्द्र समान जिनेश्वर श्रीअभि-
नन्दन स्वामी अनन्त, अखण्ड एव शाश्वत आनन्द देवें । (यहा -
स्याद्वादके अनुसारी ज्ञानसे ही शाश्वत आनन्दमय मुक्तिका लाभ हो
सकता है, अन्यथा नहीं । क्योंकि स्याद्वाद ही वस्तुके यथार्थ
स्वरूपका प्रतिपादन करता है—ऐसा अभिप्राय है) ॥ ६ ॥

द्युसत्किरीटशाणाऽग्नोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः ।

भगवान् सुमतिस्वामी तनोत्वभिमतानि वः ॥ ७ ॥

पदार्थ—द्युसत्किरीटशाणाऽग्नोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः =
द्युसत् - देव, किरीट - मुकुट, शाण - सान, कसौटी, अग्र - मुख,
सानके ऊपर, उत्तेजित - तेजकिया गया - घसा हुआ, सान चढाया
हुआ, नखावलि - नखके समूह, देवोंके मुकुट रूपी सानपर
घसाकर तीक्ष्ण तथा चमकते हुए नखोंसे विराजित, भगवान्=सर्व

एभ्यसे युक्त, सुमतिस्वामी = जिनेश्वर भीसुमतिस्वामी, ॥ = ए
मन्त्रोंके, अमिमलानि = अमीए, सुनोतु = सिद्ध करें मनोरथ पूर्ण
॥ ७ ॥

भावार्थ—(जैसे सानपर बसाकर लक्ष्मी तीक्ष्ण होयते
हैं, तथा चमकने लगते हैं, उसीप्रकार साक्षिब मन्त्रिके द्वारा
पाँचोंमें मुकुटका स्पर्शना इसप्रकार देवोंसे प्रणाम किये जानेके
कारण मुकुटोंसे बसाकर जिनके पाँचोंके नख तीक्ष्ण हो गये
तथा अधिक चमकने लगे हैं। इसलिये) देवोंके मुकुटकी सन्तान
बसाकर तीक्ष्ण एवं चमकते नखवाले भगवान् भीसुमतिस्वामी नाम
मन्त्रोंके मनोरथोंको पूर्ण करें। (यहां ओ देवोंसे सेवित होनेके
कारण देवाधिदेव हैं, वही मनोरथ पूरा कर सकते हैं - यह
शक्ति है) ॥ ७ ॥

पञ्चप्रमप्रमो देहमासाः पुण्यन्तु वा भियम् ।

अन्तरङ्गाऽरिमयने कोपाऽऽटोपादिबाऽरुपाः ॥ ८ ॥

पदार्थ—पञ्चप्रमप्रमोः = जिनेश्वरभीकण्ठम प्रसु - स्वामीय्ये,
अन्तरङ्गाऽरिमयने = अन्तरङ्ग अन्तरात्माके अहितकरनेक करण
अन्तरंग आत्मसम्बन्धी, अरि लक्ष्मी कर्म कपाय आदिके, मन्त्र
ब्रह्मकरनेके समग्र, कोपाऽऽटोपादिबाऽरुपाः = कोप श्रेष्ठके आश्रय
आवेशसे इस जैसे अरुणाः = कर्मप्रमप्रके समग्र लक्ष्मी, देहमासाः =
देहकी मास अनिसवकान्ति वा = आप मन्त्रोंकी, भियम् = सम्पत्तिके,
पुण्यन्तु = पोषे बढायें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे युद्ध आदिमें अपने शत्रुओंके नाशकरनेके समय लोगोंके मुख, आँख आदि अग क्रोधसे लाल होजाते हैं, वैसे ही कर्म, कषाय आदि अन्तरंग शत्रुओंके नाशकरनेमें जैसे क्रोधसे लाल हो गयीहो, इस प्रकारकी श्रीपद्मप्रभस्वामीके देहकी लाल कान्ति आप भक्त्योंकी सुखसमृद्धि बढ़ाये । यहा - श्रीपद्मप्रभुस्वामी अन्तरंग शत्रुओंके नाशकरनेवाले हैं, तथा उनके शरीरकी कान्ति लाल है । इसलिये स्वयं श्रीसम्पन्न तथा निर्दोष होनेके कारण लोगोंके श्रीके । प्रेषक हैं — यह स्पष्टार्थ है ॥ ८ ॥

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्घ्रये ।

नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते ॥ ९ ॥

पदार्थ—चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते=चतुर्वर्ण - चतुर्विध (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका - इन चारोंका) सङ्घ - सङ्घ-रूपीगगन - आकाश, आभोग - विस्तार - विस्तृतगगनमण्डल, भास्वत् - सूर्य, चतुर्विध सघरूपी विस्तृतगगनके सूर्यसमान, तथा, महेन्द्रमहिताङ्घ्रये=महेन्द्र - देव, असुर तथा नरोंके इन्द्र, महित - पूजित, अङ्घ्रि - पाँव, सुरेन्द्र आदिसे पूजित चरणवाले, श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय=जिनेश्वरश्रीसुपार्श्वनाथको, नमः=मेरा नमस्कार हो ॥ ९ ॥

भावार्थ—(जैसे विशाल गगन मण्डलमें सूर्य-अप्रतिम तेजस्वी, विश्वप्रकाशक तथा लोकहितकारक हैं । उस प्रकार ही विशाल-चतुर्विधसघमें जिनेश्वर अप्रतिमतेजस्वी, सदुपदेशके द्वारा विश्वके प्रकाशक तथा अहिंसा आदिके द्वारा विश्वके हितकारकभी हैं ।

इसलिये इन्द्रभी उनके चरणोंकी पूजा करते हैं । इसलिये सूर्य
सहस्रपी विस्तृतगगनके सूर्यसमान तथा महेन्द्रा सुरेन्द्र महेन्द्र
उच्च नरेन्द्रोंसे पूजित चरणवाले त्रिनेश्वरभीसुपार्थममुक्ते मेरा मनस्वर
प्रणाम हो । (जो लोगों केलिये सूर्यसमान तथा निश्चय हो, उन्हा
प्रणाम करना ही चाहिये — यह भाव है) ॥ ९ ॥

चन्द्रप्रमप्रमोक्षन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला ।

मूर्ति मूर्तसितध्याननिर्मितेव त्रियेऽस्तु वा ॥ १० ॥

पदार्थ — चन्द्रप्रमप्रमोक्षन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला, सूर्य-
सितध्याननिर्मित इव=मूर्त दृष्टिभी भाविके जैसे रूप, रस बलि
गुणोंसे युक्त, सितध्यान शुद्धध्यान, निर्मित बनायी गयी, वा
जैसे, जैसे मूर्त ऐसे शुद्धध्यानसे बनायी गयी हा इस प्रकारकी,
तथा चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला=चन्द्र, मरीचि किरण निचय राशि,
पुञ्ज, उज्ज्वल चन्द्रकी किरणके पुञ्जके समान चमकती, मूर्ति=
क्षरीर विग्रह वा=आपमय्योंकी, त्रिये=सुखसमृद्धि केलिये, अस्तु=
हो, सुखसमृद्धि देवे ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे मूर्त ऐसे शुद्धध्यानसे बनायी गयी हो इस
प्रकारसे सर्वथा निर्दोष एवं पवित्र तथा चन्द्रके किरणपुञ्जोंके समान
चमकती त्रिनेश्वरभीचन्द्रप्रमप्रममरीचि मूर्ति आप मय्योंकी सुखसमृद्धि
करवे । (मनोहर निदाव तथा पवित्र पदार्थ ही स्वयं भीतिजन्य
होनेके कारण वृद्धोंकी भीसम्पदा बढाते हैं यह वास्तव है) ॥ १ ॥

करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।

अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिर्वोधयेऽस्तु वः ॥११॥

पदार्थ—केवलश्रिया=केवल - केवलज्ञान, श्री - माहात्म्य, ऐश्वर्य, प्रभाव; शक्ति, केवलज्ञानकी महिमासे, विश्वम्=लोकालोक, करामलकवत्=कर - हाथ, आमलक - आँवला, वत् - समान, हाथके आँवलेके जैसे, कलयन्=जानते हुए - जाननेवाले, अत एव, अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः=अचिन्त्य - कल्पनातीत, माहात्म्य महिमा, निधि - खान, कल्पनातीतमहिमाकी खानसमान, सुविधिः=जिनेश्वर श्रीसुविधिनाथ, वः=आप भव्योंके, बोधये=सम्यग्ज्ञानके लिये, अस्तु=हो । ज्ञानप्रद हो ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे किसीको अपने हाथमें रहेहुए आँवलेका स्पष्ट ज्ञान होता है, उस प्रकारही जो केवलज्ञानकी महिमासे विश्व के समस्तद्रव्य तथा उनके पर्यायोंको जानते हैं, अर्थात् विश्वको करामलकवत् साक्षात् देखते हैं, ऐसे कल्पनातीत महिमाकी खान-समान जिनेश्वर श्रीसुविधिसामी आप भव्योंके ज्ञानप्रद हों । (यहां-जो विश्वका ज्ञाता है, वही यथार्थज्ञान दे सकता है - यह आशय है) ॥ ११ ॥

सच्चानां परमानन्दकन्दोद्भेदनवाऽमृतदः ।

स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलःपातु वो जिनः ॥ १२ ॥

पदार्थ—स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी=स्याद्वाद - अनेकान्तवाद, अमृत=अमृत, पानी, नि स्यन्दी=सींचनेवाले, वरसनेवाले, उपदेशक

दुःखोंसे पीडित प्राणियोंके लिये । अगदङ्कारदर्शनः=अगदङ्कार - वैद्य, दर्शन - देखाव, देखना अथवा स्याद्वादरूपी सिद्धान्त, वैद्यसमान दर्शनवाले । अर्थात् जिनके दर्शनसे भवपीडा नष्टहो, तथा जिनके सिद्धान्तमें भवरोगनाशक उपाय बताये गये हैं - ऐसे । तथा, निःश्रेयसश्रीरमणः=नि श्रेयस - मोक्ष, श्री-लक्ष्मी, समृद्धि, रमण-उपभोगकरनेवाले. मोक्षकी लक्ष्मीका उपभोगकरनेवाले - सच्चिदानन्द-मय - सिद्धस्वरूप, श्रेयांसः=जिनेश्वर श्रीश्रेयासस्वामी, वः=आप भव्योंके, श्रेयसे=कल्याणके लिये, अस्तु=हों, कल्याणप्रद हो ॥ १३ ॥

भावार्थ—(जैसे वैद्य रोग एवं उसकी पीडाको दवा आदिके प्रयोगसे दूरकरता है, वैसे ही जिनेश्वर मुक्तहोनेके कारण अपने दर्शनसे तथा स्याद्वादके उपदेशसे भवरोग दूरकरते हैं । इसलिये) भव-जन्मके कारण होनेवाले कायिक, वाचिक, मानसिक-इन त्रिविधतापों - अथवा जन्म, जरा, मरणरूपी रोगों - से पीडित जनता के लिये जिनका दर्शन वैद्य समान है, अर्थात् जिनके दर्शनमात्रसे सासारिक त्रिविधताप दूरहो जाते हैं, अथवा भवके उच्छेदका उपाय बतानेके कारण जिनका दर्शन-स्याद्वाद्नामक सिद्धान्त भवसम्बन्धी या भवरूपी - रोगसे पीडित जनताके लिये वैद्य समान है । अर्थात् जिनके देखनेसे तथा उपदेशसे भवदुःखकी निवृत्ति होती है । तथा जो मुक्तिके अनन्त, अखंड तथा शाश्वतसुखके उपभोगकरनेवाले - मुक्त - सिद्धात्मा हैं । ऐसे जिनेश्वर श्रीश्रेयासनाथ आप भव्योंके कल्याणकारक हों । अर्थात् लोग भक्तिपूर्वक श्रीश्रेयासनाथके दर्शन

स्वादादरूपी अमृतसमान बलके सीबनेवाले—वरसनेवाले, उपदेष्टा,
 अत एव, सत्त्वानाम्=मार्गियोंक, परमानन्दकन्दोद्भेदनवाञ्छुरा
 =परम सर्वोत्तम, आनन्द सुख, मोक्षसुख, कन्द कन्दरूप,
 उद्भेद-अंकुरलाना, प्रकटकरना, मय महीन, अपूर्व, सर्वोत्तम, अमृत
 शायक । सर्वोत्तम आनन्दरूपी कन्दके अंकुरित-प्रकटकरनेमें महीन
 (आपादमासके) बावळके समान जिनेश्वर, श्रीसहा=श्री
 श्रीतन्त्रस्वामी, वा=आप मर्मोंका, पातु=महान्, दुःख भारसे रक्षण
 करें ॥ १२ ॥

भावार्थ—(जैसे नवीन बावळ पानी बरसाकर पृथ्वीमें रहेहुए
 कन्दोंमें अंकुर उत्पन्नकरता है, वैसे ही जिनेश्वर अमृतके समान
 अमरत्वक देनेवाले स्वादादवर्षमका उपदेष्टा कर मोक्षसुखक मार्ग
 प्रगट कर देते हैं । इसलिये) अमृतोद्भेदस्य स्वादादरूपी पानीके सिंचन-
 उपदेष्टावत्सनेवाले मोक्षसुखरूपी कन्दक अंकुर मार्गके प्रगटकरनेमें
 महीन (आपादमासके) बावळके समान जिनेश्वर श्रीश्रीतन्त्रस्वामी
 आप मर्मोंका ममसे रक्षण करें । (यहां तत्त्वज्ञानसे ही मुक्ति
 मिलती है वह स्वादादके सिंचन वृष्टिवा नहीं है । उवा उसके
 उपदेष्टा जिनेश्वर ही है यह भाव है) ॥ १२ ॥

मयरोगाऽऽर्चयन्तुनामगाद्वारवर्धनः ।

निःश्रेयसभीरमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वा ॥ १३ ॥

पदार्थ—मयरोगाऽऽर्चयन्तुनाम्=मय संसार रोग दुःख,
 व्याधि, भार पीडित, अन्तः पाणी । मयके दुःखों अथवा मयरूपी

दुखोंसे पीड़ित प्राणियोंके लिये । अगदङ्कारदर्शनः=अगदङ्कार-वैद्य, दर्शन-देखाव, देखना अथवा स्याद्वादरूपी सिद्धान्त, वैद्यसमान दर्शनवाले । अर्थात् जिनके दर्शनसे भवपीडा नष्टहो, तथा जिनके सिद्धान्तमें भवरोगनाशक उपाय बताये गये हैं - ऐसे । तथा, निःश्रेयसश्रीरमणः=निःश्रेयस - मोक्ष, श्री-लक्ष्मी, समृद्धि, रमण-उपभोगकरनेवाले. मोक्षकी लक्ष्मीका उपभोगकरनेवाले - सच्चिदानन्द-मय - सिद्धस्वरूप, श्रेयांसः=जिनेश्वर श्रीश्रेयासस्वामी, वः=आप भक्तोंके, श्रेयसे=कल्याणके लिये, अस्तु=हो, कल्याणप्रद हो ॥ १३ ॥

भावार्थ—(जैसे वैद्य रोग एव उसकी पीडाको दवा आदिके प्रयोगसे दूरकरता है, वैसे ही जिनेश्वर मुक्तहोनेके कारण अपने दर्शनसे तथा स्याद्वादके उपदेशसे भवरोग दूरकरते हैं । इसलिये) भव-जन्मके कारण होनेवाले कायिक, वाचिक, मानसिक-इन त्रिविधताओं - अथवा जन्म, जरा, मरणरूपी रोगों - से पीड़ित जनता के लिये जिनका दर्शन वैद्य समान है, अर्थात् जिनके दर्शनमात्रसे सासारिक त्रिविधताप दूरहो जाते हैं, अथवा भवके उच्छेदका उपाय बतानेके कारण जिनका दर्शन-स्याद्वादानामक सिद्धान्त भवसम्बन्धी या भवरूपी - रोगसे पीड़ित जनताके लिये वैद्य समान है । अर्थात् जिनके देखनेसे तथा उपदेशसे भवदुखकी निवृत्ति होती है । तथा जो मुक्तिके अनन्त, अखंड तथा शाश्वतसुखके उपभोगकरनेवाले - मुक्त - सिद्धात्मा हैं । ऐसे जिनेश्वर श्रीश्रेयासनाथ आप भक्तोंके कल्याणकारक हों । अर्थात् लोग भक्तिपूर्वक श्रीश्रेयासनाथके दर्शन

तथा उपदेशसे मनुष्योत्तरे सुदुर्लभ पथे । (यहाँ जो स्वयं मुक्त है, तथा तत्त्वज्ञानके उपदेशक हैं, वही मुक्ति दे सकते हैं यह ज्ञान है) ॥ १३ ॥

विश्वोपकारकीभूततीर्थकुलकर्मनिर्मितिः ।

सुरासुरनरैः पूज्यो वासुपूज्यः पुनातु वा ॥ १४ ॥

पदार्थ—विश्वोपकारकीभूततीर्थकुलकर्मनिर्मितिः = विश्व-
तीर्थां लोकोंके प्राणी, उपकारकीभूत उपकारक, तीर्थकुल तीर्थक्षेत्र,
कर्म नामकर्म निर्मिति निर्माण उपार्जन तीनों लोकोंके उपकारक
ऐसे तीर्थक्षेत्र नामकर्मके उपार्जन करनेवाले भक्त एव, सुरासुरनरैः
= देव असुर तथा मनुष्योंसे, पूज्यः = पूजित, वासुपूज्यः = विनेश्वर
श्रीवासुपूज्यनाथ, वा = वायु मम्मोंको पुनातु = पवित्र करे ॥ १४ ॥

भावार्थ—किन्हीने तीर्थक्षेत्रनामकर्मका—उसके प्रभाव से
सुमार्तक उपदेश देकर तीनों लोकोंके उपकारके लिये उपार्जन
किया है ऐसे, सुर, असुर तथा मनुष्योंके पूज्य विनेश्वर
श्रीवासुपूज्यनाथ वायु मम्मोंको (दर्शन, उपदेश अद्वैतेश्वर)
पवित्र करें । (यहाँ तीर्थक्षेत्र नामकर्मके उपार्जन करनेवाले
ही विश्वके उपकारक तथा विश्व पूज्य हो सकते हैं । तथा उनके
दर्शन एवं उपदेशसे ही आत्मा पवित्र होती है यह ज्ञान है)
॥ १४ ॥

विमलस्वामिनो वाचः कवकसोदसोदराः ।

अयन्ति तिजगत्तोयसर्गैर्मस्यदेवतः ॥ १५ ॥

पदार्थ—विमलस्वामिनः=जिनेश्वर श्रीविमलनाथकी, कतक-
क्षोदसोदराः=कतक - कतकनामके वृक्षके फल, क्षोद - चूर्ण, सोदर-
समान । कतकके चूर्णके समान, त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः=
त्रिजगत् - तीनों लोक, चेतस् - मन, जल, नैर्मल्य - निर्मलता शुद्धि,
हेतु - कारण, करनेवाले । तीनों लोकोके प्राणियोंके चित्तरूपी जल
को शुद्ध करनेवाली, वाचः=उपदेशवाणी, प्रवचन, जयन्ति=सभी
अन्य प्राणियोंसे अधिक महत्त्वकी है ॥ १५ ॥

भावार्थ—(जैसे कतकके चूर्ण ढालनेसे पानी स्वच्छ हो जाता
है, उसप्रकार ही जिनेश्वरकी वाणीसे चित्तशुद्धि होती है - चित्तके
सारे दोष दूर हो जाते हैं । इसलिये) जिनेश्वर श्रीविमलस्वामीकी,
कतकके चूर्णके समान तीनों लोकोंके प्राणियोंके चित्तरूपी जलको
शुद्ध करनेवाली वाणी-उपदेश अन्य सभी प्राणियोंसे अधिक महत्त्व-
वाली है । (यहा—जो वाणी चित्तशुद्धिमें सहायक हो, वही सर्वश्रेष्ठ
है - ऐसा भाव है) ॥ १५ ॥

स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा ।

अनन्तजिदनन्तां वः प्रयच्छतु सुखश्रियम् ॥ १६ ॥

पदार्थ—अनन्तजित्=जिनेश्वर श्रीअनन्तजित्स्वामी, स्वयम्भू-
रमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा=स्वयम्भूरमण - स्वयम्भूरमण नामके
अन्तिमसमुद्र, स्पर्धि - स्पर्धा करनेवाले - होड़ करनेवाले, करुणारस -
करुणारूपी रस, वारि - पानी, अत्यधिक होनेके कारण स्वयम्भूरमण .
नामके अन्तिम एव अन्य सभी सागरोसे विशाल समुद्रके साथ भी

होड़ करनेवाले कल्याणरसस्वी बनसे, वा=भाप मन्त्रोक्त, अनन्त
=साधु, अलंङ तथा अनन्त, सुखविषयम्=सुखसम्पदा, प्रपन्नम्
=देवे । अथवा कल्याणरसपारिणा=कल्याणरसस्वी बनसे, स्वयम्-
रमणस्पर्धी=स्वयम्भूरमणनामक सागरके साथी होड़ करनेवाले,
अनन्तचित्तस्वामी-इसप्रकारसे श्री पदार्थ सम्भव है । किन्तु इसप्रकार
के वर्णके लिये 'स्वयम्भूरमणस्पर्धी' इसप्रकार दीर्घ इच्छाएँ सब
समझना चाहिये ॥ १६ ॥

मौलार्थ—जिनसे भी अनन्तचित्तस्वामी, स्वयम्भूरमणनामके
समुद्रके रस बखसेमी अधिक कल्याणस्वी रससे-असीमकृपासे सब
मन्त्रोंको अनन्त सुखसम्पदा देवे । (यहाँ जिनसे असीमकृपासे सब
हैं तथा कृपासे अधिक मामामें दान दिया जाता है, सब अनन्त
चित्तके लिये अनन्तसुखस्वीका दान योग्य ही है यह माँ है ।)
अथवा-अपनी कृपास्वी रसके द्वारा स्वयम्भूरमण समुद्रको भी बितने
वाले जिनसे भी अनन्तचित्तस्वामी भाप मन्त्रोंको अनन्तसुखसम्पदा
देवे । यहाँ असीमकृपासे तथा अनन्तचित्तके लिये अनन्तसुख
सम्पदाका दान ही योग्य है यह तथा उपयुक्त मन्त्र है ॥ १६ ॥

कल्पद्रुमसप्तमोऽध्यायः ।

चतुर्धाधर्मदेष्टार धर्मनाथमुपासाहे ॥ १७ ॥

परार्थ—छरीरिणाम्=प्राप्तियोंकी इष्टमात्तौ=अभिप्रेतकी
प्राप्तिमें मनोरथ पूर्णकरनेमें कल्पद्रुमसप्तमोऽध्यायम्=कल्पद्रुम कल्प-
द्रुम, सुदर्भा समान कल्पद्रुमसप्तमम्, तथा, चतुर्धाधर्मदेष्टारम्=

तुर्था - चारप्रकारके, धर्म, देष्टा - उपदेश करनेवाले, दान, शील,
तथा भाव - इन चार प्रकारके धर्मोंके उपदेश करनेवाले, धर्म-
पुत्र=जिनेश्वर श्रीधर्मनाथस्वामीकी, उपासहे=मै उपासना - भक्ति
ता ह ॥ १७ ॥

भावार्थ—(जैसे कल्पवृक्ष सभी मनोरथ पूरा करता है, वैसे
ही जिनेश्वर प्राणियोंके सभी इष्ट - मुक्ति आदि देते हैं । इसलिये)
प्राणियोंके मनोरथ पूराकरनेमें कल्पवृक्षसमान तथा दान, शील, तप
तथा भाव - इन चार प्रकारके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जिनेश्वर
श्रीधर्मनाथकी मै उपासना करता हू । (यहा - धर्मसे ही इष्ट मुक्ति
आदिकी प्राप्ति होती है । इसलिये धर्मके उपदेश करनेवालेकी ही
इष्ट - सिद्धिके लिये उपासना करनीचाहिये - यह भाव है) ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः ।

मृगलक्ष्मा तमःशान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

पदार्थ—सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः=सुधा-
अमृत, सोदर - तुल्य, वाग् - वाणी, ज्योत्स्ना - चन्द्रिका, किरण,
प्रकाश, निर्मलीकृत - प्रकाशित, पवित्रीकृत, दिक् - दिशा, मुख - अन्त,
अमृततुल्य वाणी रूपीकिरणोंसे प्रकाशित किया है - पवित्र किया है
दिगन्त जिसने - अमृततुल्य वाणीरूपी किरणोंसे दिगन्तको प्रकाशित-
पवित्रकरनेवाले, मृगलक्ष्मा=मृग - हरिण, लक्ष्म - लालन, मृगालालन-
वाले - चन्द्र, शान्तिनाथजिन, शान्तिनाथजिनः=जिनेश्वर श्रीशान्ति-
नाथ, वः=आप भज्योंके, तमःशान्त्यै=तम - अज्ञान, अन्धकार,

शान्ति=नाश, अज्ञानरूपी अन्यकारक नाशके लिये, अस्तु=हो
॥ १८ ॥

भावार्थ—(वैसे मृगछानवाले पन्त्र अपनी अमृततृप्तिके
से दिगन्तपर्यन्त पक्षर फैलकर अन्यकारक नाशकर देते हैं,
वैसे मृगछानवाले जिनेश्वर भीशान्तिनाथ अपनी अमृततृप्त
सभी प्राणियोंके हृदयको पवित्रकर अज्ञानका नाशकर देते हैं।
इसलिये) अमृततृप्त बाणीरूपी किन्जोसे दिगन्तके प्रक्षिप्त करने
वाले तथा मृगछानवाले जिनेश्वर भीशान्तिनाथ आप मयोंके अज्ञान-
रूपी अन्यकारक नाशकरें। (यहाँ जिनेश्वरकी बाणी अज्ञाननाशक
है यह स्वनि है) ॥ १८ ॥

भीङ्गुपुनायो भगवान् सनायोऽतिश्रयर्द्धिभिः ।

सुरासुरनृनाथानामकनायोऽस्तु वा धिये ॥ १९ ॥

पदार्थ—अतिश्रयर्द्धिभिः=अतिशय प्रसिद्ध अतिशय, सहज
। कर्मक्षय देवहूत प्रातिहर्ष) अर्द्धि समृद्धि प्रचुरता अधिक,
सहज आदि अतिशयोक्ति समृद्धिसे, सनायः=युक्त निराश्रित,
इसलिये सुरासुरनृनाथानाम्=सुर असुर, मृ मनुष्य तथा उनके
नाथ स्वामी इत्यादि एकनाथः=एक एकमात्र नाथ स्वामी
सर्वभेदहारी भगवान्=परीमणीय तथा प्रचुर धर्म ज्ञान आदिसे
युक्त भीङ्गुपुनायः=जिनेश्वर भीङ्गुपुनाथ, वा=आप मयोंकी
धिये=सुखसम्पदाके लिये अस्तु=हो। सुखसम्पदा देवे ॥ १९ ॥

भावार्थ—सहज, कर्मक्षयजन्य, देवकृत तथा प्रातिहार्य - इन प्रसिद्ध तथा प्रचुर अतिशयोक्तिसे विराजित, देव, असुर, मनुष्य तथा देवेन्द्र आदिकेभी एकमात्र स्वामी (देवाधिदेव) भगवान् जिनेश्वर श्रीकुन्धु-नाथ आप भक्त्योंकी सुखसम्पदा बढ़ायें । (यहा - जो ऐश्वर्यशाली है, वही सभीका स्वामी होता है, तथा किसीको ऐश्वर्य देता है—यह मान है) ॥ १९ ॥

अरनाथः स भगवांश्चतुर्थाऽरनभोरविः ।

चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलास वितनोतु वः ॥ २० ॥

पदार्थ—चतुर्थाऽरनभोरविः=चतुर्थ - चौथा, अर - द्वादशार-कालचक्रका दु षमसुषमानामका भाग, नभ-आकाशमंडल, रवि-सूर्य, चौथा अर रूपी गगनमंडलके सूर्य, भगवान्=प्रचुर तथा प्रशंसनीय ऐश्वर्य, ज्ञान आदिसे युक्त, सः=प्रसिद्ध, अरनाथ =जिनेश्वर श्रीअरनाथ, व=आप भक्त्योंका, चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासम्=चतुर्थ, पुरुषार्थ-मोक्ष, श्री-साधनसम्पदा, विलास - शोभा, चौथे पुरुषार्थ-मोक्षके (ज्ञान, चरित्र आदि) साधनोंकी शोभा, वितनोतु=करें - बढ़ायें ॥ २० ॥

भावार्थ—(जैसे सूर्य गगनमंडलमें सब ग्रहों नक्षत्रोंसे अधिक प्रकाशवान - ऐश्वर्यशाली है, तथा अपनी किरणोंसे सभी पदार्थोंकी श्रीवृद्धि करता है । उस प्रकार ही चौथे दु षमसुषमा अरमें जिनेश्वर तीनों लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा मोक्षमार्गके प्रदर्शक होनेसे उसकी श्रीवृद्धि करते हैं । इसलिये —) चौथे अर रूपी गगनमंडलके सूर्यरूपीभगवान् श्रीअरनाथ आप भक्त्योंकी (धर्म - अर्थ-काम मोक्ष - इन

शान्ति=नाश, अज्ञानरूपी अन्धकारके नाशक स्थि, वस्तु-
॥ १८ ॥

मायार्थ—(जैसे मृगछानवाले चन्द्र अपनी अमृतसुखस्थिति से विग्नतपर्यन्त मन्त्रस्थ फलाकर अन्धकारका नाशकर देता है, वैसे मृगछानवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ अपनी अमृतसुख अपनी सभी प्राप्तिओं के हृदयको पवित्रकर अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये) अमृतसुख बाणीरूपी किरणोंसे विग्नतके प्रकाशित करने वाले तथा मृगछानवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ आप मन्त्रोंके अज्ञान-रूपी अन्धकारका नाशकरें। (यहाँ जिनेश्वरकी बाणी अज्ञाननाशक है यह ध्वनि है) ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णुनाथो भगवान् सनाथोऽतिष्ठयद्भिनिः ।

सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु वः भिये ॥ १९ ॥

पदार्थ—अतिष्ठयद्भिनिः=अतिष्ठय अतिष्ठय, सद्ब्र
१ कर्मक्षयज देवकृत प्रातिहर्म्य) अग्नि समृद्धि प्रचुरता अतिष्ठय, सद्ब्र आदि अतिष्ठयोंकी समृद्धिसे सनाथः=युक्त विराजित। इसलिये सुरासुरनृनाथानाम्=सुर, असुर, द-मनुष्य तथा उनके नाथ स्वामी इत्यांक, एकनाथः=एक एकनाथ नाथ स्वामी सर्वभेदस्वामी भगवान्=परमसंगीय तथा प्रचुर धर्म शक्त आदिसे युक्त श्रीकृष्णुनाथः=जिनेश्वर श्रीकृष्णुनाथ, वः=आप मन्त्रोंकी, भिये=सुखसम्पदाके लिये, अस्तु=हों। सुखसम्पदा देवे ॥ १९ ॥

है तथा मुक्त है, वही स्तुतिपात्र है—ऐसा अभिप्राय है)
२१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।

मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुमः ॥ २२ ॥

पदार्थ—जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम्=जगत् ससार, सभी प्राणी, महामोह-महान् अज्ञान, निद्रा - नींद, प्रत्यूष - उषाकाल-
मात, समय, उपमा - तुल्य, संसारके सभी प्राणियोंकी महान् अज्ञान-
रूपी नींदके तोड़नेमें उषाकालके समान, मुनिसुव्रतनाथस्य=
जिनेश्वर श्रीमुनिसुव्रतनाथकी, देशनावचनम् = उपदेशवाणीकी,
स्तुमः=स्तुति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ - (जैसे प्रातःकालमें सभीकी नींद टूट जाती है, या
प्रातः काल सभीकी नींद तोड़नेवाला है, वैसेही जिनेश्वर अपनी उपदेश
प्राणियोंके द्वारा सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानका नाशकर देते हैं ।
[सलिये—] ससारके सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानरूपी नींदके
तोड़नेमें प्रातःकाल समान, श्रीमुनिसुव्रतनाथकी देशनावचनीकी स्तुति
करते हैं । (यहां - ज्ञानप्रद वागी हों प्रशसनीय हैं, अतः उसके
आज्ञा महान् आत्मा हैं - यह ध्वनि है) ॥ २२ ॥

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।

वारिष्णवा इव नमेः पान्तु पादनखांश्शवः ॥ २३ ॥

पदार्थ—नमताम् = प्रणामकरनेवालोंके, मूर्ध्नि - मस्तक पर,
लुठन्तः = फैलती हुई, वारिष्णवा=वारि - जल, ष्व-प्रवाह - धारा,

चार पुरुषार्थोंमें) चौथे मोक्षरूपी पुरुषार्थकी श्रान्तवारिज आदि सम्पत्ति सम्पदा कह्यो । (यहां उत्तमोत्तम व्यक्ति ही उत्तमोत्तम भूमिमें देसकता है यह सात्पर्य है) ॥ २० ॥

सुरासुरनराधीश्वरमयूरनववारिदम् ।

कर्मधून्मूलने हस्तिमङ्ग मङ्गिममिन्द्रमः ॥ २१ ॥

पदार्थ—सुरासुरनराधीश्वरमयूरनववारिदम् = दूर, दूर नर, अधीश्वर इन्द्र मयूर, नव नवीन-प्रथम बड़से मरा हुआ अवाह महीनेका वारिद बखल, देवेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्र आदि सम्पत्तिरूपी मयूरकेखिमे हर्षदेनवाले नवीन बादल रूपी, तथा, कर्म धून्मूलने=कर्म शुभ अशुभ पुण्य, पाप, दू दूष, उन्मूलन-उत्सारण, नाशकरना दूरकरना कर्मरूपी दूषके उन्मादन में हस्तिमङ्गल = ऐरावत हाथी समान मङ्गिम्=त्रिनेश्वर श्रीमन्निनायकी अमिन्द्रमः = इस स्तुति करत है ॥ २१ ॥

मावार्थ (नवीन काले बादलोको देखकर मयूर हर्षसे बांध उठता है, देवेन्द्र आदिमी अस्तित्व मक्ति होनेके कारण त्रिनेश्वरको देखते ही अत्यन्त हर्षित हो जाते हैं, क्योंकि वेते ऐरावत हाथी इसको उत्साह फैलता है, जैसे ही त्रिनेश्वरनेमी कर्मरूपी दूषना बड़ मूलमें नष्टकर दिया है तथा उपदेष्टाके द्वारा दूषनके कर्मद्वारा नाशकरते हैं । इसलिये—) देवेन्द्र आदिरूपी मयूरोंकेखिमे नवीन बादलरूपी तथा कमरूपी दूषको उत्साह फैलनेवाले ऐरावतरूपी त्रिनेश्वर श्रीमन्निनायकी मैं स्तुति करता हूँ । (यहां जो समीक्षा

प्रिय है तथा मुक्त है, वही स्तुतिपात्र है—ऐसा अभिप्राय है)
॥ २१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।

मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुमः ॥ २२ ॥

पदार्थ—जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम्=जगत् संसार, सभी प्राणी, महामोह-महान् अज्ञान, निद्रा - नींद, प्रत्यूष - उषाकाल-प्रमात, समय, उपमा - तुल्य, संसारके सभी प्राणियोंकी महान् अज्ञान-रूपी नींदके तोड़नेमें उषाकालके समान, मुनिसुव्रतनाथस्य=जिनेश्वर श्रीमुनिसुव्रतनाथकी, देशनावचनम् = उपदेशवाणीकी, स्तुम=स्तुति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ - (जैसे प्रातः कालमें सभीकी नींद दूट जाती है, या प्रातः काल सभीकी नींद तोड़नेवाला है, वैसेही जिनेश्वर अपनी उपदेशवाणियोंके द्वारा सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानका नाशकर देते हैं । इसलिये—) संसारके सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानरूपी नींदके तोड़नेमें प्रातःकाल समान, श्रीमुनिसुव्रतनाथकी देशनावचनीकी स्तुति करते हैं । (यहां - ज्ञानप्रद वाणी हीं प्रशंसनीय है, अतः उसके श्रवणसे महान् आत्मा है - यह ध्वनि है) ॥ २२ ॥

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।

वारिप्लवा इव नमेः पान्तु पादनखांश्शवः ॥ २३ ॥

पदार्थ—नमताम् = प्रणामकरनेवालोंके, मूर्ध्नि - मस्तक पर, लुठन्त = फैलती हुई, वारिप्लवा.=वारि - जल, प्लव-प्रवाह - धारा,

पानीकी धारा, इव जैसे निर्मलीकरकरणम् = निर्मलीकर शुद्ध करना, करण-साधन, शुद्धकरनेका साधनरूप शुद्धकरनेवाले, नमो = विनेश्वर श्रीनिम्नायकी, पादनस्त्राक्षव = पाद पाँव, मल, वंशु-किरण, पाँवके मलोंकी किरणें, पान्तु = (आप मन्मोकी) रक्षा करें ॥ २३ ॥

मावर्ष (जैसे पानीकी धारा मलको बोकड़ माँवा आदि वंगोको पवित्र करती है, जैसे ही विनेश्वरके पाँवोंके मलोंकी किरणें मलकपर पड़नेसे प्रणाम करनेवालोंको पवित्र करदेती हैं। इसलिये—) अतिशय भक्तिसे अत्यन्त शुद्धकर प्रणाम करनेवालोंके मलक पर फैलती हुई, एवं पानीकी धाराके समान पवित्र करनेवाली विनेश्वर श्रीनिम्नायके पाँवोंके मलोंकी किरणें आप मन्मोकी रक्षा करें। (यहाँ जो पवित्र करे, वास्तवमें वही रक्षक है तथा विनेश्वरके प्रणामसे लोक पवित्र होते हैं ऐसा आशय है) ॥ २३ ॥

यदुबंशसमुद्रन्दुः कर्मकषुताशनः ।

अरिष्टनेमिभगवान् भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

पदार्थ—यदुबंशसमुद्रन्दुः = यदु यदुनामके राजा वंश

मन्तान कुल समुद्र इन्दु चन्द्र यदुबंशरूपी समुद्रकेस्त्रिये चन्द्र

रूपी कर्मकषुताशन = कर्म पुण्यपाप, कषु वन, हुताशन

अग्नि कर्मरूपी वनकेस्त्रिये अग्निरूपी भगवान् = ज्ञान आदि गुणोंसे

सिद्धित अरिष्टनेमिः = विनेश्वर श्रीनिम्नाय वा = आप मन्मोके,

अरिष्टनाशनः = अरिष्ट उपासी, उपद्रव, मादन नाशकरनेवाले सभी

उपद्रवोंके नाशकरनेवाले, भूयात्=होवें ऐसी मेरी प्रार्थना है
॥ २४ ॥

भावार्थ—(चन्द्र समुद्रको बढ़ाता है तथा अग्नि वनको जला देता है यह प्रसिद्ध है । जिनेश्वरने भी यदुकुलमें जन्म लेकर उसको बढ़ाया - प्रख्यात किया है, तथा जान एव चारित्रिके बलसे सभी कर्मोंको जला दिया है - नाशकर दिया है । इसलिये) यदुकुल रूपी समुद्रके लिये चन्द्ररूपी तथा कर्मवनके लिये अग्निरूपी जिनेश्वर श्री अरिष्टनेमिनाथ भगवान् आप भव्योंके उपद्रवोंका नाश करें । (यहां-जो अरिष्टों-उपद्रवोंके लिये नेमि - चक्रधारारूपी हैं, तथा कर्म - सासारिक उपाधियोंसे रहित हैं, वे ही उपद्रवोंका नाशकर सकते हैं - यह अभिप्राय है) ॥ २४ ॥

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।

प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥ २५ ॥

पदार्थ—स्वोचितम्=अपने अपने स्वभावके अनुरूप, कर्म-क्रिया, क्रमशः उपसर्ग तथा उसका निवारणरूप क्रिया, कुर्वति=करनेवाले - करतेहुए, कमठे=कमठनामके असुरके विषयमें, च=और, धरणेन्द्रे=धरणेन्द्रनामके नागराजके विषयमें, तुल्यमनोवृत्तिः=तुल्य - समान, मनोवृत्ति - भावना समानभावनावाले - पक्षपातरहित-समदर्शी - उदासीन - मध्यस्थ, पार्श्वनाथः=जिनेश्वर श्रीपार्श्वनाथ, प्रभुः=स्वामी, वः=आप भव्योंकी, श्रिये=सुखसम्पदा केलिये, अस्तु=हो, सुखसम्पदा बढ़ायें ॥ २५ ॥

मावर्ष—(यद्यपि श्रीपार्श्वनाथ प्रतिपादित थे, तो उनके चमकते हुए मंगकेलिये पूर्वमन्मके वैरक कारण कमठनामके असुरने जनेक उपसर्ग कियेये, तथा विनेश्वरमक्त होनेक कारण नागराज परमेश्वरने अपनी शक्तिये उन उपसर्गोंका निवारण कियाथा । फिरभी मगवान् दोनोंके विषयमें समदर्शी थे, किसीके ऊपर उनकी राग तथा द्वेष नहीं था । इस कथाके अनुसन्धानसे सुनिश्चित होते हैं कि) अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार उपद्रव तथा संस्रका निवारण करनेवाले कमठ नामके असुर तथा परमेश्वरनामके नागराजके विषयमें समदर्शी वीतराग विनेश्वर श्रीपार्श्वनाथस्थानी आप मन्वोंकी सुखसम्पदा बढ़ा दें । (यहां प्रभु वीतराग हैं, तथा वीतराग ही सुखके मूल हैं यह भाव है) ॥ २५ ॥

कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्वरतारयोः ।

ईषद्वाभ्यार्द्रयोर्महं श्रीषीरजिननेतयोः ॥ २६ ॥

इति कश्चिन्नान्तर्दृष्टीहेमचन्द्राचार्यविरचितं सफ्यमहंस्तोत्रं समाप्तम् ॥

वार्त्त—कृताऽपराधे=कृत किया है अपराध जिसने ऐसे अपराधकारिताकेक ऊपर अपि=भी कृपामन्वरतारयोः=कृपा तथा मन्वर=स्विर धारा=आँसूके करारे माया आँसूके धारे दयासे स्त्रि हैं आँसूके धारे बिनके दयापूर्णदृष्टिके अतएव, ईषद्वापा ईयोः=ईषद्=कुछ, वाप्य=आँसू आर्द्र मीगे दयासे उमड़ आये आँसूजोसे कुछमीगे श्रीषीरजिननेतयोः=विनेश्वर परम

तीर्थङ्कर श्रीमहावीरस्वामीके दोनों नेत्रोंका, भद्रम्=मंगल हो ।
श्रीवीरजिनके नेत्र सकल मंगलकी खान हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—(जिनेश्वर श्रीमहावीरके ध्यानकी इन्द्रसे की गयी
प्रश्नाकी परीक्षा करनेकेलिये पृथिवीपर आकर मगमनामके नुरने
उनका ध्यान तोड़नेकेलिये अनेकों भयकर उपसर्ग किये, किन्तु
असफल होकर लौटनेकेसमय उम अनुरके विषयमें 'आततायी इस
देवकी क्या गति होगी?' इस आशकासे श्रीवीरजिनकी आखोंमें
दयासे आसू उमड़ आये तथा उसको स्थिरदृष्टि - एकटकसे देखने
लगे - इस कथाके अनुसन्धानसे स्तुति करते हैं कि-) अपराधकरने-
वालेके ऊपरभी दयासे स्थिर तथा आसूसे भरे जिनेश्वर श्रीमहावीर
स्वामीके नेत्रका मंगल हो - वह सर्वमंगलकारक है । (यहां - जो
नेत्र अपराधीके ऊपर भी दयापूर्णहों, वैसे नेत्रवाले हीं सकल
मंगलकारक हैं, तथा जिनेश्वर अपराधीके प्रतिभी दयालुहीं होते
हैं—यह आशय है) ॥ २६ ॥

इति सकलाऽर्हस्तोत्रे तपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरि-
प्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकचालत्रयचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टा -
लङ्कारसमयज्ञशान्मूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीपट्टधर - सिद्धान्त-
महोदधि - प्राकृतविद्विगारदचार्यवर्यविजयश्रीकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-
पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित कीर्तिशालाख्यहिन्दी-
भाषानुवाद समाप्त ॥

॥ श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

कर्मिणास्तर्पयन् श्रीह्रीमन्मन्त्रार्चने परिशिष्टपुष्पनामके चरितमण्य
का प्रारम्भ करतेहुए मंगलकेशिने श्रीमहावीरस्वामीको प्रणाम
करते हैं—

श्रीमत् वीरनाथाय सनाथायाञ्चसुतभिया ।

महानन्दसरोराजमराठायाञ्चैते नमः ॥ १ ॥

पदार्थ अचसुतभिया=अमृत आश्चर्यकारक, श्री-अतिशय
सम्पदा, आश्चर्यकारक अतिशयसम्पदाओंसे सनाथाय=पुष्प-
विरञ्जित, महानन्दसरोराजमराठाय=महात्मन् महानन्दस्वामी, सरस्
वराज सरोवर राजमराठ मराठ हुसक राजा राजहंस महान्
आनन्दस्वामी सरोवरके राजहंसस्वरूप अस्ति=वरिष्ठ तीर्थहर
जिनेश्वर श्रीमते=श्रीमान् वीरनाथाय=महावीरस्वामीका नमः=मेरा
नमस्कार हो ॥ १ ॥

माधर्ष्य—(जैसे सरोवरमें राजहंस सर्वाधिक क्षोमासम्पन्न स्व
यमेव विहार करनेवाला सरोवरके कमल आदि सम्पदाओंका यथेष्ट
उपभोग करनेवाला होता है वैसेही जिनेश्वर अनन्त अतिशयोक्ति
विराजित एवं मुक्त होनेसे अनन्त आश्चर्य तथा असीम ऐसे महान्
आनन्दका यथेष्ट उपभोग करनेवाले हैं । इसलिये) असाधारण तथा
अनैतिक होनेसे आश्चर्यकरक सहस्र आदि अतिशयोक्ति विराजित
एवं महान् अनन्त, आश्चर्य तथा असीम आनन्द मोक्षदास्वामी

सरोवरके राजहसस्वरूप चरम तीर्थङ्कर श्रीमान् महावीरस्वामीको मेरा प्रणाम हो - मैं प्रणाम करता हूँ । (यहां जो अद्भुत अतिशयोक्ते विराजित तथा मुक्त हैं, वही नमस्कारयोग्य तथा मंगलकारक हैं— यह भाव है) ॥ १ ॥

सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।

देवाधिदेवं सर्वज्ञं श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

पदार्थ—सर्वेषाम्=सभी, वेधसाम्=ज्ञानियोंके अथवा वासुदेव-अर्धचक्रियोंके, आद्यम्=मुख्य अथवा प्रथम, तथा, परमेष्ठिनाम्=प्रसिद्ध पंच परमेष्ठियोंके, आदिमम्=सर्वप्रथम - गणनीय - अग्रगण्य, देवाधिदेवम्=देवाधिदेव - देवोंकेभी सेव्य, सर्वज्ञम्=सर्वज्ञ - केवल-ज्ञानी, श्रीवीरम्=चरम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीका, प्रणिदध्महे=ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सर्वज्ञ होनेके कारण सभी ज्ञानियोंके मुख्य हैं, अथवा सभी अर्धचक्री वासुदेवोंके प्रथम हैं, (यहाँ - प्रथम चक्रवर्ती भरतके पुत्र मरीचिका जीव त्रिपृष्ठनामके प्रथम वासुदेव हुए थे, तथा वह त्रिपृष्ठवासुदेवका जीवहीं चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी हुए-ऐसा आगममें वर्णित है,—यह ध्यान देने योग्य है ।) तथा जो अतिशयोक्ते, निर्हेतुककृपा एवं सभी प्राणियोंका उपकार आदिगुणोंके कारण, अर्हत् - सिद्ध - आचार्य - उपाध्याय साधु - इन पंच परमेष्ठियोंमें अर्हत् - शब्दसे सर्वप्रथम कहे जाते हैं तथा अग्रगण्य हैं, ऐसे देवाधिदेव-देवोंकेभी पूज्य सर्वज्ञ चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीका मैं ध्यान

करता हूँ । (महाँ शानकी कामनावालेकेलिये उर्षुकगुणविशिष्ट
वीरकर ही ज्येष्ठ हूँ - यह अभिप्राय है) ॥ २ ॥

कल्याणपादपाऽऽरामे भुवगङ्गाहिमाचलम् ।

विद्याऽम्भोजरविं देव वन्दे श्रीशिवनन्दनम् ॥ ३ ॥

पदार्थ कल्याणपादपाऽऽरामम्=कल्याण शुभ, पादप-पत्र,
आराम उपवन, बगीचा कल्याणरूपी वृक्षकेलिये उपवनरूपी, भुव-
गङ्गाहिमाचलम्=भुव आगम, गङ्गा गङ्गानदी हिमाचल-हिमात्म्य
पर्वत, आगमरूपी गङ्गानदीकेलिये हिमात्म्यपर्वतरूपी, विद्याऽम्भोज-
रविम्=विद्य संसार संसारके सभी प्राणी अम्भोज-कमल रवि-सूर्य,
संसारी प्राणीरूपी कमलोंकेलिये सूर्यरूपी, देवम् = देवसिंह,
श्रीशिवनन्दनम्=श्रीशिव इत्यानुवंशकी धारता शिवकुल नन्दन-
पुत्र हर्षवर्धन, (चरमतीर्थकर श्रीमहावीरस्वामी)की वन्दे=मैं वन्दन
करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—(जैसे उपवनमें अच्छे वृक्षोंका बोपण, संवर्धन एवं
रक्षण होता है, उसमकार ही जो कल्याणक बोपण संवर्धन तथा
रक्षण करनेवाले कल्याणप्रद हैं । तथा, जैसे हिमात्म्य पर्वत गंगा
मदीका उद्गमस्नान है वैसे ही जो आगमों के उद्गमस्नान-प्रद हैं ।
तथा सूर्य जैसे कमलोंका प्रपोषित विकसित करता है वैसे ही जो
संसारी प्राणीको सतुषेदेसांक द्वारा प्रपोषित करते हैं—सम्यग् ज्ञान
देते हैं । इसलिये) कल्याणरूपी वृक्षोंके उपवनरूपी, आगमरूपी
गङ्गानदीके हिमात्म्यपर्वतरूपी तथा मय्यप्राणीरूपी कमलोंके सूर्यरूपी

जातकुलोद्भव चरमतीर्थकर देवाधिदेव श्रीमहावीर स्वामीकी मैं वन्दना करता हूँ । (यहा-शुभकारक, शास्त्रप्रवर्तक, ज्ञानप्रद तथा उच्चकुलोत्पन्न एव देवोंकेभी वन्दनीय ही वन्दनीय हो सकने हैं—यह भाव है)
॥ ३ ॥

पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।

भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वजश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित श्रीवीरजिनस्तोत्र समाप्तम् ॥

पदार्थ—भव्यानाम्=भविष्यमें सिद्धि प्राप्तकरनेवाले - भव्य-प्राणियोंके, आन्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः=आन्तर - अन्तरग, मल-दोष - राग, द्वेष, कषाय आदि, प्रक्षालन - धोना, शुद्ध करना, दूर करना, जल, उपमा - समान, अन्तरग-रागद्वेष कषाय आदि - दोषोंके दूरकरनेमें निर्मलजलसमान, श्रीमहावीरस्वामिनः = चरमतीर्थकर श्रीमहावीरस्वामीकी, देशनागिरः=उपदेशवाणी - प्रवचन, वः=आप-भव्योंकी, पान्तु=रक्षाकरें, आत्मशुद्धिके द्वारा कल्याणप्रद हों ॥ ४ ॥

भावार्थ — (जैसे निर्मल जल - शरीर वस्त्र आदिके मैलको साफ करदेता है, वैसेही तीर्थकरकी वाणी सम्यग् ज्ञानका प्रतिपादन करनेके कारण आत्माके दोषों-रागद्वेष कषाय आदि-को दूर करनेवाली है । इसलिये) भव्यप्राणियोंके अन्तरग दोषोंके दूरकरनेमें निर्मल-जलसमान, चरमतीर्थकर श्रीमहावीरस्वामीकी देशनावाणी आपकी रक्षाकरें - अन्तरग दोषोंको दूरकर आत्माकी शुद्धि करें । (यहा-

अन्तरंग बोधोके दूर करनेवाले ही वास्तविक रक्षक है—यह आशय है) ॥ ४ ॥

इति श्रीगीतगोविन्दसूत्रे तपोगणपति-शासनसमाह-कव्यमंगिरी
मन्मथनेकतीर्थोद्धारकवासुदेवशार्ङ्गधर्मवर्षश्रीमद्विजयतेमिसूरीभरपद्मस-
ङ्गार-समयक-सान्त्वयन्त्याचार्यवर्षश्रीविजयविज्ञानधरीभरपद्मपर-सिद्धान्त
महोदधि माह्वविद्विष्टारवाचार्मवर्षश्रीविजयकस्तूरधरीभरपद्मवर्ष-यन्त्या
सर्धक्रीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित कीर्तिककाव्यहिन्दीभाषाज्जुबाद
समाप्त ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥



पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचितकीर्तिकलाव्याख्यासहितानि
पुस्तकानि—

१. द्वात्रिंशिकाद्वयी (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाऽन्ययोगव्यवच्छेद-
द्वात्रिंशिका च) कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।
२. द्वात्रिंशिकाद्वयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।
३. वीतरागस्तवः—कीर्तिकलाव्याख्याविभूषितः ।
४. वीतरागस्तवः—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।
५. स्तोत्रत्रयी (सकलाऽर्हस्तोत्र-वीरजिनस्तोत्र-महादेवस्तोत्राणि)
कीर्तिकलाहिन्दीव्याख्यासहिता ।
६. स्तोत्रत्रयी - कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।
७. अध्यात्मसारः—कीर्तिकलाव्याख्यासहित (यन्त्रस्थः) ।
(सम्पूर्ण-भागों में) ।

प्राप्तिस्थान —

श्रीजनकलालकान्तिलाल ।
लिम्बडीशेरी, पेटलाद,
वाया-आणन्द, (गुजरात) ।

॥ अहम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-स्रसिद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ श्रीमहादेवस्तोत्रम् ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहितम् ।

श्रेय प्राप्तिकेलिये महादेवकी आराधना करनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है । महादेव हीं शिव, महेश्वर आदि शब्दोंसे सम्बोधित किये जाते हैं । किन्तु उनके स्वरूपके विषयमें सम्प्रदायोंका भिन्न भिन्न मत है । इसलिये कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजीने महादेवके पारमार्थिक स्वरूपके परिचयकेलिये श्रीमहादेवस्तोत्रकी रचना की है । जिसमें शिव, महेश्वर, महादेव आदि शब्दोंकी व्याख्याके द्वारा श्रीमहादेवस्तोत्रका प्रारम्भ करते हैं—

प्रशान्त दर्शन यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।

मङ्गल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवका, दर्शनम्=देखाव, देखना, प्रशान्तम्=शान्त, शमभावनाका उद्बोधक, आत्मामें रहे हुए उपशमभावका

व्यञ्जक, जो उग्र तथा उल्लेखजनक नहीं हो ऐसा, तथा, सर्वमूर्त-
 समयप्रदम्=सभी प्राणियोंक समय देनेवाला, जो किसीके लिये भी
 मयकारक नहीं हो ऐसा, तथा, मङ्गल्यम्=मङ्गलकारक एवं मङ्गल-
 स्वरूप, एवं, प्रशस्तम्=शुभ, प्रशस्नीय तथा इष्ट है, तेन=दर्शनका
 प्रधानतः अर्थात् हानेके कारण, शिवः=शुभ, शिव ऐसे, विभाव्यते=
 समझे जाते हैं कहे जाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस देवका देखाव छान्त है तथा मयकारक नहीं
 है, तथा मङ्गलकारक एवं प्रशस्नीय है । अथवा जिस देवके देसनेसे
 छान्ति मिलती है तथा मय नहीं होता, तथा मङ्गल होता है, इसलिये
 जिस देवका देसना शुभ तथा इष्ट है । अतः वह देव शिव कहे
 तथा समझे जाते हैं । (जिस देवका देखाव अस्वामाधिक—मनेक
 नेत्र मुख आदिसे तथा कोष आदिसे एवं कर्ण आदिसे युक्त
 होनेके कारण उग्र एवं मयकारक तथा मय एवं मुख्यमात्रका आदिसे युक्त
 होनेके कारण अमङ्गल एवं निन्दनीय है । अथवा उग्र एवं विरुद्ध
 भङ्ग तथा क्षमादिसे युक्त होनेके कारण जिस देवका देसनेसे शोक,
 मय एवं अमङ्गल होते हैं, इसलिये जिसका देसना अनिष्ट है । वह
 देव शिव नहीं कहे जा सकते । क्योंकि शिवसम्बन्धका अर्थ शुभ तथा
 शुभकारक—ऐसा ही होता है । इसलिये अन्यतीर्थिकोंके शिव, जो
 विरुद्ध भङ्गमाने कोषी दिगम्बर एवं सन्नादिसहित कहे गये हैं,
 वह सम्बन्धमात्रसे ही शिव है, अर्थसे नहीं—ऐसा अभिप्राय है) ॥ १ ॥

प्रशस्त स्मरणका दूसरा अर्थभी हो सकता है । जैसे-यस्य=
 जिस देवसे प्रतिपादित, दर्शनम्=दर्शन सिद्धान्त, प्रधानतम्=प्रधान

है, तथा, सर्वभूताऽभयप्रदम्=सभी प्राणियोंके अभय देनेवाला है ।
तथा, मङ्गल्यम् च,=कल्याणकारक है, तथा, प्रशस्तम् च=प्रशसनीय
तथा इष्ट है । तेन=उक्त गुणोंके कारण (वह देव) शिवः=शिव-
शुभप्रद, विभाव्यते=कहे तथा माने जाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस देवका सिद्धान्त मुक्तिका प्रतिपादन करनेके
कारण शान्तिकी राह बताता है, इसलिये प्रशान्त है । तथा अहिंसा
आदिके उपदेशके द्वारा सभी प्राणियोंके अभय देनेवाला, शुभमार्गके
उपदेश देनेके कारण कल्याणकारक है, इसलिये वह दर्शन प्रशस-
नीय तथा इष्ट है । वह देव शिव शब्दसे कहे जाते हैं, तथा शिव
समझे जाते हैं । (अन्यतीर्थिकोंके प्रसिद्ध शिवका दर्शन-सिद्धान्त
हिंसा आदिसे होनेवाले यज्ञ आदिका प्रतिपादन करनेके कारण
अशान्त, भयप्रद एवं अशुभानुबन्धी है, इसलिये अमंगल तथा
निन्दनीय है । अतः वह देव शब्दमात्रसे शिव हैं, अर्थसे नहीं-
ऐसा अभिप्राय है ॥ १ ॥

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः ।

रागद्वेषविनिर्मुक्त वन्देऽहं त महेश्वरम् ॥ २ ॥

पदार्थ—यः=जिस देवने, महत्त्वात्=महिमासे, च=तथा,
ईश्वरत्वात्=ऐश्वर्यसे, महेश्वरताम्=महेश्वरपन-वङ्गप्पन, गतः=
प्राप्त किये हैं, रागद्वेषविनिर्मुक्तम्=राग तथा द्वेषसे विनिर्मुक्त-रहित=
चीतराग ऐसे, तम्=उस, महेश्वरम्=महेश्वर कहे जानेवाले देवकी,

अहम्=मै, वन्दे=वन्दना करता हूँ मैं उस महेश्वर देवको प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

मार्थ—जिस देवने सर्वकर्मक्षय तथा केवल-वर्धन, ज्ञान चारित्र्य आदि असाधारण एवं अलौकिक गुणरूपी महिमासे तथा सृष्टि आदि अतिशयरूपी ऐश्वर्यसे महेश्वरपन प्राप्त किये हैं—महेश्वर कहे गये हैं । मैं वीतराग ऐसे उस महेश्वर देवको प्रणाम करता हूँ । (जिन परतीर्थियोंके महेश्वरकी महिमा अलौकिक एवं असाधारण नहीं, किन्तु जगत्का पावन संहार आदि लौकिकही कही गयी है, तथा सृष्टि आदि अतिशय नहीं कहे गये हैं एव श्री आदि परिग्रह शत्रुनिग्रह-भक्तानुग्रह आदिके कारण जो वीतराग नहीं हैं । वे शब्दसे ही महेश्वर हैं, सर्वसे नहीं । इसलिये वे मुमुक्षुओंके प्रणम्य नहीं — ऐसा अभिप्राय है) ॥ २ ॥

महाज्ञानं मधेशस्य लोकलोकप्रकाशकम् ।

महादया-दम-भ्यानं महादेवः स उच्यते ॥ ३ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवका महाज्ञानम्=महान्-अन्य ज्ञानों की अपेक्षासे उत्तम, निरुद्ध, नित्य एवं अनन्त, ज्ञान केवम्भान, लोकलोकप्रकाशकम्=स्वेष संसार तथा संसारमें रहनेवाले मृत मन्त्रिय तथा वर्णमान सभी द्रव्य तथा उसका प्रणाम, अलोक-संसारसे बाहरका भावप्रसन्न=उम जानाका प्रकाशक प्रदूषण करमेवात्मा=ज्ञानने वस्य दे, अमरा स्वरूपस्वरूपक होनेके कारण अमरका ज्ञान महाज्ञान है तथा, महादया दम-भ्यानम्=महान् रागभीतिसे प्रति

होनेसे अन्यकी अपेक्षासे उत्कृष्ट ऐसी दया तथा, महान् - असाधारण, दम इन्द्रियमनोग्रह, एव महान् - निर्विकल्पक होनेसे सर्वोत्तम, ध्यान - शुक्लध्यान है, सः=वह देव, महादेव =महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस देवका लोक तथा अलोक दोनोंके जानने वाला ऐसा महान् ज्ञान है, अर्थात् जो देव केवलज्ञानी है, अथवा जिस देवका महान् ज्ञान लोक तथा अलोक दोनोंका प्रकाशक है। तथा जिस देवकी दया, दम तथा ध्यान महान् है, अर्थात् जिस देवकी दया सर्वजीवोंके प्रति है, दम कभी भग नहीं होनेके कारण असाधारण है, एव ध्यान निर्विकल्पसमाविरूप शुक्लध्यान है, वह देव महादेव कहे जाते हैं। (अन्य तीर्थिकोंके महादेव शब्दसे ही महादेव हैं। क्योंकि वे केवलज्ञानी नहीं हैं, तथा सृष्टिका सहार करनेके कारण उनकी दया महान् नहीं है, उनका दमभी उनके परिग्रही होनेके कारण महान् नहीं है, तथा ध्यान भी रौद्र होनेके कारण महान् नहीं है - यह तात्पर्य है) ॥ ३ ॥

महान्तस्तस्करा ये तु तिष्ठन्तः स्वशरीरके ।

निर्जिता येन देवेन महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

पदार्थ—स्वशरीरके=अपने शरीरमें, तु=हीं, ये=जो, तिष्ठन्तः=रहे हुए, रहनेवाले, महान्तः=बहुत बड़े, तस्कराः=चोर हैं, वह, येन=जिस, देवेन=देवसे, निर्जिताः=जीते गये हैं, सः=वह देवही, महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

महार्घ—अपने शरीरमें ॥ ओं बन, पशु आदि पुरानेवाले चारोंकी अपक्षासे अधिक बलवान् तथा शौक्तिक चोर जिसको नहीं पुरा सकते ऐसे सम्पूर्णधन, ज्ञान आदि आत्माके सर्वस्वक पुराने-वाले इन्द्रियरूपी महान् चोर रहे हुए हैं उनके जिस अनन्तज्ञान आदिसे युक्त देवने जीत लिये हैं वह जितेन्द्रिय देव ही महान् चोरोंके जीतनेके कारण महादेव बड़े व्यते हैं । (किन्तु परीक्षिकोंके महादेव तो स्त्री आदि परिग्रहवाले हैं, इसलिये वे अपने शरीरमें रहे हुए उन महान् चोरोंके जीतनेवाले नहीं हैं । किन्तु उन चोरोंके ही अधीन हैं । अतः वे सम्प्रमात्रसे ही महादेव हैं—वह मात्र है) ॥ ४ ॥

रागाद्वेषौ महामल्लौ दुर्जयौ येन निर्बिती ।

महादेव तु तं मन्ये श्रेया वै नामधारकाः ॥ ५ ॥

महार्घ—येन=जिस देवने, रागाद्वेषौ=रागाद्वेषरूपी, दुर्जयौ=दुर्जय वह कष्टसे जीतने योग्य, महामल्लौ=महान् मल्ल पृष्णानोंको निर्बिती=जीतलिये हैं तम्=उस देवको तु=ही महादेवम्=महादेव, मन्ये=मैं मानता हूँ । श्रेयाः=अवशिष्ट उस देवके अवशिष्ट दूसरे देव अन्यगीर्णिकोंके महादेव, वै=तो, नामधारकाः=महादेव ऐसे नामधारण करनेवाले ही हैं । (किन्तु वास्तवमें महान् देव होनेके कारण महादेव नहीं है) ॥ ५ ॥

माद्यज—जिस देव (जिनेश्वर)न रागाद्वेषरूपी (अन्यथा कष्टसे रहनेके कारण अत्यन्त बलवान् होनेसे) दुर्जय ऐसे महान्

मलोंको जीत लिये है, अर्थात् आत्मामें अनादिकालसे रहनेके कारण अत्यन्त दृढ़ होनेसे दुस्त्याज्य ऐसे रागद्वेषोंका जिस देवने त्याग कर दिया है, उन देव (वीतराग जिनेश्वर)को ही मैं महादेव मानता हूँ। अर्थात् दूसरे देवोंसे अजेयके जीतनेवालेको ही महादेव कहना योग्य है। अन्य तीर्थिकोंके देवतो नामसे ही महादेव हैं। (अर्थ तथा गुणसे नहीं। क्योंकि वे स्त्री आदिका परिग्रह तथा शत्रु आदिके निग्रह आदिमें प्रवृत्त होनेसे रागद्वेषके ही अधीन हैं, उसके जीतनेवाले नहीं। इसलिये वे वास्तविकरूपसे महादेव नहीं हैं - यह अभिप्राय है) ॥ ५ ॥

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकानां मते मतः ।

शब्दतो गुणतश्चैवार्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

पदार्थ—लौकिकानां=लौकिक विषयोंकी प्राप्तिसे ही कृतार्थ ऐसे साधारण जनों (अन्यतीर्थिकों)के, मते=मतमें, मतः=माने गये, महादेवः=महादेव, शब्दमात्रः=नाममात्र ही हैं। किन्तु, जिनशासने=जिनेश्वरसे उपदिष्ट सिद्धान्तके अनुसार माने गये महादेव, शब्दतः=नामसे, अर्थतोऽपि=अर्थसे भी, गुणतश्चैव=और गुणसे भी, (महादेव हैं) ॥ ६ ॥

भावार्थ—सम्यक्चरहित तथा वस्तुके अनेकान्तात्मक स्वरूप के नहीं जाननेवाले लौकिक पदार्थ स्त्री, पुत्र तथा धन आदिको ही सर्वस्व माननेवाले मुक्तिमार्गसे वंचित ऐसे लौकिक - अन्यतीर्थिकोंके मतमें माने गये महादेव नाम मात्रसे महादेव हैं (गुण तथा अर्थसे

नहीं । क्योंकि वे चित्तेन्द्रिय धीतराग आदि गुणोंसे युक्त नहीं हैं ।) विनश्यास्तनमें माने गये विनेश्वररूपी महादेव तो शत्रु महादेव ऐसे नामसे, एवं महान् — केवलज्ञान आदि होनेके कारण अन्यदेवोंसे श्रेष्ठ देव ऐसे अर्थसे तथा ऊपर वर्णित गुणोंसे भी महादेव हैं ॥ ६ ॥

शक्तितो व्यक्तितमैव विज्ञानासृष्ट्याचया ।

मोहबालं इत येन महादेवः स उच्यते ॥ ७ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, मोहबालम्=मोह ममताके साथ समूहको सभी प्रकारकी ममताओंको नाशकर दिया है त्याग कर दिया है सः=वह देव, शक्तितः=शक्तिसे व्यक्तितमैव=तथा व्यक्तित्वसे विज्ञानात्=नि निशिष्ठज्ञान केवलज्ञानसे तथा=और, सृष्ट्यात्=सृष्टिसे महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं । अथवा जिस देवने शक्तितः=भरने व्यापिक अनन्त आत्मबीर्मसे तथा केवलज्ञानक प्रभावसे व्यक्तितः=एक एक करके, मोहोका नाशकिया है वह सृष्ट्यात्=मोहनाशरूप सृष्टिसे, महादेव कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

माकर्म—जिस (विनेश्वर) देवने सभी प्रकारकी ममता-आका त्याग कर दिया है वही मोहक नाश करनेवाले सबल कर्मके क्षयसे आनिर्भूत अनन्त आत्मबीर्म तथा सृष्ट आदि अतिशयवाले अस्त्यारज तथा असौक्तिक व्यक्तित्व एवं केवलज्ञान और कहे मये तथा भागे कहे जानेवाले सृष्ट्य इन सभी गुणोंके होनेसे महादेव

कहे जाते हैं । अथवा जिस देवने अपने क्षायिक अनन्त आत्मवीर्य और केवलज्ञानके प्रभावसे एक एक करके मोहोंका नाश कर दिये हैं, ऐसे वह (जिनेश्वर) देवर्ही महादेव कहे जाते हैं । (अन्यतीर्थिकों के महादेव, त्रीपुत्र आदिमे ममत्व होनेके कारण तथा उक्त प्रकारके शक्तिआदि गुण नहीं होनेके कारण गुणसे या अर्थसे महादेव नहीं हैं-यह आशय है) ॥ ७ ॥

नमोऽस्तु ते महादेव ! महामदविवर्जित ! ।

महालोभविनिर्मुक्त ! महागुणसमन्वित ! ॥ ८ ॥

पदार्थ - महामदविवर्जित ! = हे महान् मद-उद्वण्डता-अहङ्कारसे, विवर्जित रहित, निरभिमानी महालोभविनिर्मुक्त ! = हे महान् लोभसे, विनिर्मुक्त रहित, निर्लोभी, महागुणसमन्वित ! = हे महान् गुणोंसे समन्वित-विभूषित !, महादेव ! = हे महादेव !, जिनेश्वर, ते = आपको, नमः = (मेरा) नमस्कार, अस्तु = हो ॥ ८ ॥

भावार्थ — ज्ञान आदिका उत्कर्ष रहने पर भी उसके मदसे रहित होनेके कारण तथा किसीभी प्रकारके मद नहीं रहनेके कारण महान् निरभिमानी, किसीभी प्रकारके परिग्रह नहीं रहनेसे तथा सभी प्रकारके लोभसे रहित होनेके कारण महान् निर्लोभी, असाधारण एवं अलौकिक निरभिमानता, निर्लोभता, सभी प्राणियोंका उपकार तथा केवल ज्ञान आदि महान् गुणोंसे विभूषित ऐसे हे महादेव ! जिनेश्वर ! आपको मेरा नमस्कार - प्रणाम है । (अन्य तीर्थिकोंके महादेव तो बल आदिके अभिमान तथा श्मशानवास,

मृत्यु आदि मत्तजनोंके योग्य क्रियाओंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त मत्त पूजानैवेद्य आदिका लोभ होनेके कारण महान् लोभी, अत एव उत्तम गुणोंसे रहित होनेके कारण महादेव नहीं है, इसलिये बन्धनीय भी नहीं है (ऐसा अभिप्राय है) ॥ ८ ॥

महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च ।

कषायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, महारागः=महान् क्रिष्ण स्थान अशुभ है ऐसा, अत्युत्कट, राग विषयासक्ति तथैव च=और महाद्वेषः=महान्-अत्युत्कट द्वेष अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति, एवं, महामोहः=महान् मोह ममत्व च=तथा, कषायः=कषाय क्रोध, मात्स, माया, लोभ इन सभीका हतो=नाश किये हैं, त्याग किये हैं सः=ऐसे ब्रह्म (जिम्भर) देव ही, महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—(अन्ध धारण एवं अलौकिक अतिशय शक्ति, ज्ञान आदिसे युक्त) जिस देवने (अनादि कालसे रहनेके कारण) महान्-अत्यन्त ब्रह्म एवं दुर्भय ऐसे राग, द्वेष, तथा महान्-विषेकको ब्रह्म करनेवाला मोह एवं महान् क्रोध मान माया तथा लोभमय कषाय-इन सभीक त्याग कर दिये हैं । ब्रह्म तैय ही महादेव कहे जाते हैं । (इन सभी गुणोंसे युक्त जिम्भर ही हैं इसलिये वही महादेव है अन्य तीर्थिकक इष्ट महादेवके यह सब गुण नहीं हैं अतः वे नामधारी महादेव ही हैं—यह आशय है) ॥ ९ ॥

महाकामो जितो येन महाभयविवर्जितः ।

महाव्रतोपदेशी च महादेवः स उच्यते ॥ १० ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, महाकामः=महान् अत्यन्त उत्कट काम - कामना - वासना - कामिनीजिज्ञासा आदिका, हतः=नाश - त्याग किया है, तथा जो, महाभयविवर्जितः=महान् भयसे विवर्जित-रहित हैं, च=तथा, महाव्रतोपदेशी=महान् व्रतोंके उपदेश करनेवाले हैं, सः=वह देव हीं, महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ - जिस देवने अत्यन्त उत्कट ऐसी मोग तथा उप-मोगकी इच्छारूपी महाकामका (चारित्रके पालन आदिसे) त्याग-दमन किया है, अर्थात् जो सर्वथा निष्काम हैं, तथा जो (सकल कर्मोंका क्षय करनेसे) जन्म जरा मरण आदिरूप भवके महान् भयोंसे रहित - अत्यन्त निर्भय हैं । एव सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूपी पाच महान् व्रतोंके उपदेश करनेवाले हैं, वह देव हीं महादेव कहे जाते हैं । (जिनेश्वरमें यह सभी गुण हैं, इसलिये वही महादेव हैं । अन्य तीर्थिकोंके महादेव तो स्त्री आदि परिग्रहोंसे युक्त होनेके कारण कामी, शत्रु आदिसे भयभीत एव हिंसासे होनेवाले निकृष्ट यज्ञ आदिके उपदेशक होनेसे शब्दसे हीं महादेव हैं गुणोंसे नहीं-यह तात्पर्य है) ॥ १ ॥

महाक्रोधो महामानो महामाया महामदः ।

महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥

पदार्थ—येन=प्रिय देवने महाक्रोधा=महान् क्रोध
 स्य क्रोध, महामानः=महान् अत्यधिक मान अभिमान महान्,
 महाप्राया=महान् अपार माया=शक्तता, महामदः=महान् मद्य
 भिक्त मद बल विषा ऐश्वर्य आदिके अभिमानसे हुई उद्वेग,
 तथा, महालोभः=महान् अत्यन्त लोभ, इन सभी दोषोक्त, इत=
 नास्त किये हैं—त्याग कर दिये हैं, स=वह देव, महादेव=
 महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रिय देवने (मान तथा आदिके बलसे)
 अत्यन्त उद्वेग, हिसादिमें प्रवृत्ति कराम तथा स्वामी एवं अधिक
 परिमाणमें हानिके कारण महान् क्रोध गुरु आदिकी अज्ञा
 करानेवाले तथा अत्यधिक होनेके कारण मग्न-विषा कुल बल
 आदिके अभिमान अपार माया, अस्त्रिय आदिके प्ररक्त तथा क्लेश
 बल आदिके अभिमानसे हानेवाली महान् उद्वेगता एवं दुःस्थाय
 होनेसे महान् लोभ इन सभी दोषों-कामाका माद्य-त्याग दिया
 है। अथात् हा देव कृपाय रक्षित एवं निर्मद हैं वह देव ही
 मग्न-वद जाते हैं। (वीरराग ज्ञानी एवं मेयमी होनेके
 कारण त्रिनेधर उक्त सभी दोष आदि कृपाया तथा मन्दते रक्षित हैं
 इत्यन्त्ये वही महादेव हैं। अन्यीर्षियोंके महादेव पुराण आदिमें
 शोभी मानी आदि रूपमें वर्णित हैं, इत्यन्त्ये वह महादेव वही हैं —
 (सा प्रत्यक्ष है) ॥ ११ ॥

मग्नानन्ददय यस्य महाज्ञानी महातपाः ।

महायोगी महामौनी महादेवः स उच्यते ॥ १२ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवके, महानन्ददये=आनन्द तथा दया महान् सर्वोत्कृष्ट हैं। तथा जो देव, महाजानी=महान् सर्वद्रव्य-पर्यायविषयकहोनेसे सर्वश्रेष्ठ जानी-जानवाले, केवलज्ञानी महातपाः=महान् दूसरोंसे अत्यधिक तपस्वी, महायोगी=महान्-असाधारण योगी, महामौनी=महान्-विशुद्ध मौनी-मौनव्रतपालक तथा मुनिके महान्-उत्कृष्टलक्षणोंसे युक्त है। सः=वही, महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस देवका आनन्द महान्-आश्रित, अखण्ड, अनन्त एव निरुपाधिक तथा निर्विकल्प होनेके कारण सर्वोत्तम है, तथा जिस देवकी दया महान्-सब जीवोंके प्रति समान रूपसे होनेके कारण अन्यदेवोंकी अपेक्षासे अत्यधिक है। तथा जो देव अनन्त तथा सर्वपदार्थविषयक होनेसे महान् ज्ञानवाले-केवलज्ञानी, दुष्कर, विशुद्ध एव अत्यधिक अनशन आदि तप करनेके कारण महान् तपस्वी, सहज आदि अतिशयोंका कारणभूत होनेसे असाधारण एव अलौकिक योगसे युक्त तथा मुनियोंके सर्वोत्तमभावों एव क्रियाओंसे युक्त हैं। वह देवहीं महादेव कहे जाते हैं। (परतीर्थिक देव उक्त सभी गुणोंसे रिक्त होनेके कारण वास्तविक रूपसे महादेव नहीं कहे जा सकते—ऐसा भाव है) ॥ १२ ॥

महावीर्यं महाधैर्यं महाशीलं महागुणः ।

महामञ्जुक्षमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवके, महावीर्यम्=वीर्य-आत्मबल महान्-सर्वाधिक हैं, महाधैर्यम्=धैर्य-सन्तोष महान्-सर्वोत्कृष्ट हैं, महाशीलम्

=शील-चारित्र्य महान्-असाधारण एवं सर्वोत्तम हैं, महागुणः=गुण-सम्पन्नदर्शन, ज्ञान आदिगुण महान्-असाधारण एवं अस्मैकिक हैं तथा महामञ्जुवज्रमा=बिजली जमा अथवा अग्नि सहनशीलता महान् प्रशंसनीय सर्वांगिक अत एव मञ्जु-मनोहर है, सः=कह देव, महादेवः =महादेव उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिस देवके आत्मबल एवं उत्साह क्षामिक होनेके कारण अनन्त है, सन्तोष कभी अल्प नहीं होनेके कारण स्थािर एवं सर्वांगिक हैं चारित्र्य असाधारण अस्मैकिक एवं सर्वोत्कृष्ट हैं सम्पन्नदर्शनआदि गुण अप्रतिपाती एवं अनन्त हैं, जमा प्रशंसनीय एवं असाधारण हैं वह देवही महादेव कहे जाते हैं । (अन्तरीर्षिक देवोंके ये गुण नहीं हैं । क्योंकि वे रागद्वेष आदिसे अमिश्रित हैं । इसलिये वे महादेव नहीं कहे जा सकते । किन्तु बिनेश्वर ही उक्त गुणोंसे शोभित होनेके कारण महादेव हैं—यद् अमिश्रण है) ॥ १३ ॥

स्वयम्भूतं यतो ज्ञानं लोकालोकप्रकाशकम् ।

अनन्तवीर्यचारित्र्यं स्वयम्भूः सोऽमिधीयते ॥ १४ ॥

पदार्थ—यसः=जिस देवके, लोकालोकप्रकाशकम्=लोक तथा अलोक दोनोंका प्रकाशक-ज्ञाननेवाला, ज्ञानम्=केवलज्ञान, स्वयम्भू-तम्=स्वय-गुरुके उपदेशके बिना ही अपने आप मूल-भगवत्-हृत्वा है, तथा जिस देवके, अनन्तवीर्यचारित्र्यम्=चारित्र्य तथा वीर्य अनन्त हैं, अथवा स्वयम्भूत स्वय-किमी देव आदिकी कृपा आदिके बिना ही

अपने आप भूत प्राप्त हैं, सः=वह देवही, स्वयम्भूः=स्वयम्भू, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस देवके लोकालोकके परिच्छेद करनेवाला-तीनों कालमें सर्वद्रव्यपर्यायका ग्रहण करनेवाला-केवल-ज्ञान गुरु आदिकें उपदेशके बिना हीं जन्मसे हीं ज्ञानत्रय युक्त होनेके कारण चारित्र-पालनसे कर्मोंके नाश हो जानेसे अपने आप प्रगट हो गया है । तथा जिस देवके चारित्र एव आत्मबल क्षायिक होनेसे अनन्त हैं, अथवा जिस देवके लोकालोकप्रकाशकज्ञान तथा अनन्तवीर्य एव चारित्र स्वयम्भूत=कर्मोंके सर्वथा क्षय हो जानेसे (बादलोंके हट जानेसे सूर्यके जैसे) अपने आप प्रगट हो गये हैं, वह देवही स्वयम्भू कहे जाते हैं । (ऐसे स्वयम्भूत-ज्ञान, वीर्य तथा चारित्रवाले जिनेश्वर हीं हैं, दूसरे देव नहीं । इसलिये जिनेश्वर हीं एकमात्र परमार्थ रूपसे स्वयम्भू हैं, दूसरे तो नामधारी हीं हैं—यह भाव है) ॥ १४ ॥

शिवो यस्माज्जिनः प्रोक्तः शङ्करश्च प्रकीर्तितः ।

कायोत्सर्गं च पर्यङ्की स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः ॥ १५ ॥

भावार्थ—यस्मात्=चूकि, जिनः=जिनेश्वरदेव - ऋषभनाथ आदि तीर्थङ्कर, कायोत्सर्गं=कायोत्सर्ग मुद्राके धारण करनेवाले, च=तथा, पर्यङ्की=पर्यङ्कासनके धारण करनेवाले, एव, स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः=स्त्री, शस्त्र आदिसे रहित हैं—स्त्री शस्त्र आदिका त्याग कर दिये हैं, इसलिये वे, शिवः=शिव, प्रोक्तः=कहे गये हैं, च=

तथा छद्मरः=छद्मर, प्रकीर्तितः=कहे गये हैं—छिव तथा छद्मर
छन्दोसे उक्त कर्णन किया जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—चूंकि त्रिनेश्वर प्राणमनाब जाति तीर्थहर ॥ किसी
भी जीवकी विराधना नहीं हा ऐसे कार्योत्सर्गमुद्राके धारण करने
वाले एवं निर्विकल्प, निष्कल्प तथा निरुपाधिक समाधिस्थि
पर्यवसानसे रहनेवाले तथा की सक्र आदि परिग्रहसे रहित हैं ।
अर्थात् चारित्रिका यथावत् प्राप्त हो इसलिये सिन्धोने उचित मुद्रा
एवं आसनका स्वीकार किया है तथा की सक्र आदि सभी परिग्रहों-
का त्याग कर दिया है । इसलिये व त्रिनेश्वरदेव ही छिव कल्याण
मय एवं कल्याणमय होनेके कारण छिव तथा छद्मर छन्दोसे कहे
गये हैं वर्णित है । (दूसरे वेव तो की सक्र आदि परिग्रह होनेसे
असम्प्राप्त नित्तवाले एवं जीव विराधनाके विवेकके बिना ही
यथेच्छ, निन्दनीय मुद्रा एवं आसनके धारण करनेवाले, अल्प
आसन एवं मुद्रासे रहित होनेके कारण शिवास्वरूप एवं कल्याण
कारक नहीं हैं किन्तु सक्रादि धारण करनेसे भवहर एवं अनिष्ट
करनेवाले ही है । इसलिये वह नाममात्रसे ही छिव तथा छद्मर
हैं, गुण तथा धर्मसे नहीं वह अभिप्राय है) ॥ १५ ॥

साक्षरोऽपि शानाकारो मूर्त्तोऽमूर्त्तस्तथैव च ।

परमात्मा च बाह्यारमा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥

पदार्थ—हि=चूंकि, सा=त्रिनेश्वरदेव साक्षरः=धरीरी है,
इसलिये, मूर्त्तः=रूप, स्पर्श जाति गुणालं सगुण है । च=और

तथैव=उसी प्रकार अनाकारः=(सिद्ध अवस्थामें) आकार-शरीर रहित हैं इसलिये, अमूर्तः=रूप स्पर्श आदि गुणरहित-अव्यक्त है । च=पुनः, तथैव=उस प्रकार हीं, परमात्मा=सिद्धस्वरूप, च=तथा, बाह्यात्मा=औदारिकादि शरीररहित तथा सिद्धि रहित केवल कर्म शरीरसे युक्त, तथा, अन्तरात्मा=देही हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—श्रीजिनेश्वर देव सिद्धिलामसे पूर्व शरीरी होनेके कारण आत्माके स्वभावतः अमूर्त होने परभी उसके प्रदेशोंके कर्मयुक्त होनेसे कथंचित् मूर्त - व्यक्त है । तथा सिद्ध अवस्थामें शरीररहित होनेसे अमूर्त - पौद्गलिक उपाधिरूप गुणसे रहित-अव्यक्त हैं । तथा तीर्थङ्कर एव सिद्ध अवस्थामें परमात्मा, विग्रहगति कालमें बाह्यात्मा एव देही अवस्थामें अन्तरात्मा भी हैं । (इसलिये अन्यतीर्थिक देवके वर्णित सगुण आदि रूप परमार्थसे जिनेश्वरमें हीं घटित होते हैं । अन्य देवके विषयमें तो शब्दमात्र हीं हैं - यह भाव है) ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानयोगेन परमात्माऽयमव्ययः ।

परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

पदार्थ—अयम्=यह जिनेश्वर देव, अव्ययः=अविनाशी - मुक्त होनेके कारण जन्म मरणादिरूप अपाय रहित, तथा, दर्शन-ज्ञानयोगेन=दर्शन - सम्यग्दर्शन तथा केवलदर्शन एवं ज्ञान - सम्यग्ज्ञान तथा केवलज्ञानके योग - सम्बन्धसे, परमात्मा=परम - सर्वोत्कृष्ट आत्मा हैं । तथा सांसारिक अवस्थामें भी, क्षान्तिः=क्षमा,

च=तथा, अहिंसा, परा-कभी मज नहीं होनेवासी, अमर्षि, असाधारण, स्वाधिक, सर्वोत्कृष्ट है, इत्यन्तिमे, स=बह अत्मा हैं, परमात्मा=परम मरुष्ट गुणवान् आत्मा परमात्मा, उच्यते=कही जाती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—कह जिनभरदेव तीर्थहर अवस्थामें सकल कर्मद्वय हो जानेसे नित्य अनन्त वर्धन ज्ञान होनेके कारण अव्यय मुक्त जन्म जरा मरण आदि अघातोंसे रहित अविनाशी निर्गुण परमात्मा है। तथा सांसारिक अवस्थामें क्षमा तथा अहिंसा आदि गुणोंके सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक तथा सर्वजीवनिष्पेक्ष होनेके कारण वह सगुण परमात्मा है। (क्योंकि परमगुणोंके होनेसे ही आत्माओं परमात्मा कहा जाता है। अन्य द्वा ज्ञान, वर्धन एवं क्षमा अहिंसा आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण नाम मात्रसे ही सगुण निर्गुण परमात्मा है—ऐसा तात्पर्य है) ॥ १७ ॥

परमात्मा सिद्धिप्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तर ।

अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येय सिद्धिः शिवा ॥ १८ ॥

पदार्थ—सिद्धिप्राप्तौ = सिद्धि निकल आने पर अर्थात् मुक्त अवस्थामें परमात्मा=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा परमात्मा तु=तथा भवान्तरे=दो भगोंके मध्यस्थी अवस्थामें अर्थात् किमद्भुतशक्तियों, बाह्यात्मा-बाह्य औपार्थिक आदि पार पृथीरसे बहिर्गुण आत्मा तथा देहे=देहस्थ होनेपर अर्थात् देही अवस्थामें अन्तरात्मा=अन्तर देहक मध्यस्थी आत्मा भवेत्=है, इति=इस प्रकार एष=

प्रशान्तदर्शन आदि गुणोंसे विराजित - प्रस्तुत, शिव = शिव - जिनेश्वर, विविधः=तीन प्रकारके है ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रशान्त दर्शन आदि गुणोंसे युक्त शिव जिनेश्वर ही अन्तरात्मा, बाह्यात्मा तथा परमात्मा-इन त्रिविध रूपोंसे युक्त हैं । जैसे—सिद्धि प्राप्त होनेपर, अर्थात् मुक्त अवस्थामें अनन्त-दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य तथा वीर्य आदि सिद्ध होनेसे वह परमात्मा कहे जाने हैं । क्योंकि सिद्ध आत्मासे अधिक उत्कृष्ट गुण अन्य आत्मा में नहीं होते । इसलिये वह परम-सर्व श्रेष्ठ आत्मा है । तथा सिद्धि-की प्राप्तिसे पूर्व जब भवावस्थामें जन्म ग्रहण केलिये पूर्व भव छोड़कर जिनेश्वरकी आत्मा परभव ग्रहण करने केलिये विग्रहगतिमें रहती है, तब वह बाह्यात्मा हैं । क्योंकि उस अवस्थामें वह आत्मा कर्मण शरीरके सिवाय अन्य सभी शरीरोंसे बाहर रहता है । इसलिये बाह्या - बाहर रहनेवाली आत्मा - बाह्यात्मा हैं । एवं जन्म ग्रहणके बाद शरीरस्थ रहनेके कारण अन्तर - शरीरमें रहने-वाली आत्मा - अन्तरात्मा हैं । इस प्रकार जिनेश्वर त्रिविध आत्मस्वरूप हैं । (अन्य तीर्थिकोंके शिवमें इस प्रकारसे तीनों अथ घटित नहीं होनेके कारण वह नामधारी ही हैं—ऐसा भाव है) ॥ १८ ॥

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ॥

पञ्चदेविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—दोषसम्पूर्णः=दोष - कर्म जन्म, राग द्वेष आदिने सम्पूर्ण - सहित होनेपर 'सकलः' = कला - भवावस्थामें होनेवाले

स=तथा, अहिंसा, परा-कभी मझ नही होनेवासी, अत्यैकिक, असाधारण, सर्वाधिक, सर्वोत्कृष्ट है इसन्मि, स=वह आत्मा ही, परमात्मा=परम प्रकृष्ट गुणवान् आत्मा परमात्मा, उच्यते=कही जाती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—वह जिनेश्वरदेव तीर्थङ्कर अवस्थामें सकल कर्मकर्म हो जानेसे निश्चय अनन्त दर्शन ज्ञान होनेके कारण अन्यत्र मुक्त, अन्य जरा मरण आदि अपायोंसे रहित अविनाशी निर्गुण परमात्मा है । तथा सांसारिक अवस्थामें क्षमा तथा अहिंसा आदि गुणोंके सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक तथा सर्वजीवविषयक होनेके कारण वह सगुण परमात्मा है । (क्योंकि परमगुणोंक होनेसे ही आत्माको परमात्मा कहा जाता है । अन्य द्वा ज्ञान, दर्शन एवं क्षमा अहिंसा आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण नाम मात्रसे ही सगुण निर्गुण परमात्मा है—एसा तत्त्वार्थ है) ॥ १७ ॥

परमात्मा सिद्धिप्राप्तौ बाह्यात्मा तु मवान्तर ।

अन्तरात्मा मयेदेहे इत्येव विविधः विधः ॥ १८ ॥

पञ्चाव—सिद्धिप्राप्तौ = सिद्धि मिल जाने पर, अर्थात् मुक्त अवस्थामें परमात्मा=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा परमात्मा, तु=तथा, मवान्तर=दा मर्माके मध्यस्थी अवस्थामें अर्थात् क्रिद्गनिकास्थमें, बाह्यात्मा बाह्य आहारिक आदि पार शरीरसे परिपूर्ण आत्मा, तथा देहे=देहस्थ होनेपर अर्थात् देही अवस्थामें, अन्तरात्मा=अन्तर दहके मध्यस्थी आ-मा मयेत=हैं इति=इस प्रकार एव =

प्रज्ञानदर्शन आदि गुणोंसे विराजित - प्रस्तुत शिव = शिव - जिनेश्वर, विविध = तीन प्रकारके हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रज्ञान दर्शन आदि गुणोंसे युक्त शिव जिनेश्वर ही अन्तरात्मा वाद्यात्मा तथा परमात्मा-इन त्रिविध रूपोंसे युक्त हैं । जैसे—सिद्धि प्राप्त होनेपर, अर्थात् मुक्त अवस्थामें अनन्त-दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य तथा वीर्य आदि सिद्ध होनेसे वह परमात्मा कहे जाने हैं । क्योंकि सिद्ध आत्मासे अधिक उत्कृष्ट गुण अन्य आत्मा में नहीं होते । इसलिये वह परम-सर्व श्रेष्ठ आत्मा है । तथा सिद्धि-की प्राप्तिसे पूर्व जब भवावस्थामें जन्म ग्रहण केलिये पूर्व भव छोड़कर जिनेश्वरकी आत्मा परमव ग्रहण करने केलिये विग्रहगतिमें रहती है, तब वह वाद्यात्मा हैं । क्योंकि उस अवस्थामें वह आत्मा कर्मण शरीरके सिवाय अन्य सभी शरीरोंसे बाहर रहता है । इसलिये वाद्या - बाहर रहनेवाली आत्मा - वाद्यात्मा हैं । एवं जन्म ग्रहणके बाद शरीरस्थ रहनेके कारण अन्तर - शरीरमें रहने-वाली आत्मा - अन्तरात्मा हैं । इस प्रकार जिनेश्वर त्रिविध आत्मस्वरूप हैं । (अन्य तीर्थिकोंके शिवमें इस प्रकारसे तीनो अथ घटित नहीं होनेके कारण वह नामधारी ही है—ऐसा भाव है) ॥ १८ ॥

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ॥

पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—दोषसम्पूर्णः = दोष - कर्म, जन्म, राग द्वेष आदिने सम्पूर्ण - नष्ट होनेपर । निष्कलः = कल - भवावस्थामें होनेवाले

दोषोंसे रहित सकल सगुण हैं। दोषवर्जितः=दोष उक्त मन्त्ररूपे
 रागभादि दोषोंसे वर्जित रहित होनेपर मुक्त अवस्थामें, पद्मदेहनि
 निर्मुक्तः=पद्म पांशु, देह धारीरोंसे निर्निर्मुक्त रहित, तथा
 परमम्=सर्वोच्च, सर्वोत्कृष्ट-सिद्धिस्थिररूप, पदम्=पद स्थानसे,
 सम्प्राप्तः=प्राप्त करने पर, निष्कलः=उक्त मन्त्ररूपी कलमसे रहित
 निर्गुण हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—त्रिनेश्वर देव, सांसारिक अवस्थामें संसारमें होने
 वाले कर्मजनित अन्म, जरा मरण, राग, द्वेष आदि दोषों से भक्ता
 कर्मरूप दोषसे मुक्त रहते हैं। इसलिये उस अवस्थामें वे सकल=
 कलम सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणोंसे मुक्त होनेसे सगुण
 हैं। तथा आरित्र पावन आदिके मन्त्ररूपसे उक्त दोषोंसे रहित
 होनेपर उन दोषोंके कारण होनेवाले भौतिक, बैक्य, आहाररूप
 तैजस तथा कर्मण्य इन पांशु धारीरोंसे मुक्त होकर सिद्धस्थिर रूप
 परम पदको प्राप्त करते हैं, उस अवस्थामें निष्कल=कलमसे रहित-
 निर्गुण हैं। (दूसरे देव तो पृथिवी आदिके कारण दोष सम्पूर्ण हैं
 वे। इसलिये वह नामधारी निष्कल या निर्गुण है वास्तविक रूपसे तो
 सदा सकल या सगुण ही हैं—यह भाव है) ॥ १९ ॥

एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्र्यदर्शनात् ॥ २० ॥

पदार्थ—(त्रिनेश्वर) एकमूर्तिः=मूर्ति-रूप - सरीर-व्यक्ति-
 स एक है, और, ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः=ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर

इन नामोंके, त्रय = तीन, भागा = भाग - अंश-पर्याय हैं । च=तथा, ते=वे तीनों भाग, एव = हीं, ज्ञानचारित्रदर्शनात् = ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन शब्दोंसे क्रमश, पुनर् = फिरसे - शब्दान्तरसे, उक्ता = कहे गये हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—जिनेश्वर रूपी एक मूर्ति हैं, तथा उसके ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर - इन नामोंके तीन पर्याय है । वह तीनों पर्याय हीं ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन शब्दों से कहे जाते हैं । अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर एव ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन ये शब्द क्रमश पर्याय शब्द हैं । इस प्रकार अन्यदर्शनमें बताये गये (एक मूर्ति तीन भाग) जिनेश्वर हीं है । दूसरे देवके विषयमें 'एक मूर्ति तीन भाग' यह उक्ति असंगत है, जिसका प्रतिपादन आगे किया जायगा—यह जानना चाहिये । ॥ २० ॥

एकमूर्तिस्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

परस्पर विभिन्नानामेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २१ ॥

पदार्थ—एकमूर्ति.=एक मूर्ति, और, ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः= ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर - ये, त्रय = तीन. भागा = भाग - अंश हैं । किन्तु, परस्परम् = परस्पर, एक दूसरेसे, विभिन्नानाम् = विभिन्न - पृथक् स्वरूप - शरीरवालोंकी, एकमूर्ति.=एक शरीर, कथम् = कैसे, भवेत् ? = हो सकती है ? अर्थात् परस्पर भिन्न शरीरवालोंकी तीन मूर्तिया होंगी, एक नहीं ॥ २१ ॥

भावार्थ—अन्यतीर्थिकाका अभिप्राय है कि ब्रह्मरूप एक व्यक्तिके ही ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर ये तीनों ब्रह्म हैं। जहाँ यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर तीनों परस्पर एक दूसरेसे भिन्न स्वरूपवाले हैं। तो इन तीनोंकी एक मूर्ति या एक मूर्तिके ये तीनों भाग कैसे हो सकते हैं ? (एक मूर्तिके तीन अवयव हो सकते हैं किन्तु पूरक रही हुई तीन मूर्तियाँ एक मूर्ति या एक मूर्तिके भागरूप तीन मूर्तियाँ नहीं हो सकती। जो जिसका भाग होता है वह एकव्य नहीं रहनेसे अपूर्ण होता है। जहाँ से ब्रह्म सम्पूर्ण हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वरमी पूरक पूरक सम्पूर्ण ही हैं। इसलिये एकका दूसरा भाग है ऐसा कहना अनुक्त है—
 ऐसा तत्त्व है) ॥ २१ ॥

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारण तु महेश्वरः ।

कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २२ ॥

पदार्थ—विष्णु = विष्णु नामक देव कार्यम् = कार्य-कृत-पुत्र है ब्रह्मा = ब्रह्मा नामके देव क्रिया = क्रियारूप द्वार है तु = तथा, महेश्वरः = महेश्वरनामके देव कारणम् = कारण-निमित्त है। इस प्रकार, कार्यकारणसम्पन्नाः = कार्यकारण भागको भाग हुई तीन मूर्तियाँ, एकमूर्तिः = एकमूर्ति कथम् = कैसे भवेत् ? = हो सकती है, जहाँ नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

भावार्थ—पौराणिकोंका कहना है कि—महेश्वरकी प्रेरणासे ब्रह्माके शरीरसे विष्णु प्रगट हुए। 'एसी स्थितिसे महेश्वर निमित्त

हुए, ब्रह्मा द्वार हुए, तथा विष्णु कार्य हुए । (जैसे दण्ड निमित्त है, चक्रा घूमना द्वार है, घट कार्य है । यहाँ ब्रह्मा बीचमें रहनेसे चक्रके घूमनेके जैसे द्वार माने गये हैं—यह व्यान देने योग्य है ।) इस प्रकार ये तीनों कार्यकारणभावको प्राप्त हैं । तो एक मूर्ति कैसे हो सकते हैं ? । (एक ही व्यक्तिमें कार्यकारणभाव नहीं होता, किन्तु भिन्न व्यक्तियोंमें होता है, जैसे दण्ड तथा घटमें । दण्ड तथा घट एक मूर्ति है—ऐसा तो बालकभी नहीं कह सकता । इसलिये तीनोंकी एकमूर्ति नहीं हो सकती । किन्तु जिनेश्वरके ही उक्त प्रकारसे एक मूर्तिके तीन भाग हैं—ऐसा अभिप्राय है) ॥ २२ ॥

प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।

अभिजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २३ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, प्रजापतिसुत=प्रजापति द्विजके पुत्र हैं । तथा, माता=ब्रह्माकी माता, पद्मावती=पद्मावती नामकी, स्मृता=कही गयी हैं । एव, जन्मनक्षत्रम्=ब्रह्माके जन्म समयका नक्षत्र, अभिजित्=अभिजित् नामका है । तो, एकमूर्ति-
=एकमूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

भावार्थ—(एक मूर्तिके ही भिन्न भिन्न अवस्थाओंके सूचक ये नाम हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि इन तीनोंके माता पिता आदि भिन्न भिन्ननामके हैं । जैसे—) ब्रह्मा नामके देव प्रजापति नामक द्विजके पुत्र हैं उनकी माताका नाम पद्मावती है । तथा

जन्मनक्षत्र अभिजित् है । ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति कैसे हो सकती है ।। (एक व्यक्तिके ही मिल मिल माता पिता तथा जन्म नक्षत्र नहीं होते । इसलिये यथा विष्णु एवं महेश्वर एक मूर्तिके तीन भाग नहीं हैं — ऐसा अभिप्राय है । पुराणमें प्रजापतिके पुत्रको ब्रह्माक्षर कह्य गया है । उसके अनुसार यहाँ माता पिता आदिको स्मृत है । ऐसे तो ब्रह्मा विष्णुके नामिकमन्त्रसे उत्पन्न तथा तद्विके कर्ता माने जाते हैं — यह ध्यान देने योग्य है) ॥ २३ ॥

वसुदेवसुतो विष्णुमाता च देवकी स्मृता ।

रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ! ॥ २४ ॥

पदार्थ—विष्णुः=विष्णु नामक देव-कृष्ण, वसुदेवसुतः=वसुदेवनामक राजाके पुत्र हैं । च=तथा, माता=कृष्णकी मता देवकी=देवकी नामकी स्मृता=कही गयी है । जन्मनक्षत्रम्=कृष्णके जन्म समयका नक्षत्र, रोहिणी=राहिणी नामका है । तो एकमूर्तिः=एकमूर्ति कथम्=कैसे भवेत् !=हो सकती है ! ॥ २४ ॥

भाषार्थ—विष्णु वसुदेव राजाके पुत्र हैं, उनकी माताका नाम देवकी है और उनका जन्मनक्षत्र रोहिणी है । ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ।। (एक ही व्यक्तिके अनेक माता पिता नहीं हो सकते । इसलिये एक मूर्ति तीन भाग कहना असंगत है । पुराणोंमें कृष्णको विष्णुका अवतार कहा गया है । तदनुसार यहाँ उपर्युक्त बातें कही गयी हैं यह जानना चाहिये) ॥ २४ ॥

पेढालस्य सुतो रुद्रो माता च सत्यकी स्मृता ।

मूल च जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २५ ॥

पदार्थ—रुद्र.=रुद्र - महेश्वर, पेढालस्य=पेढालनामकद्विजके, सुत=पुत्र हैं । च=तथा, माता=रुद्रकी माता, सत्यकी=सत्यकी नामकी, स्मृता=कही गयी है । च=तथा, जन्मनक्षत्रम्=रुद्रके जन्मका नक्षत्र, मूलम्=मूलनामका है । तो, एकमूर्ति=एकमूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकती है ? ॥ २५ ॥

भावार्थ—रुद्र, जो पुराणोंमें महेश्वरके अवतार कहे गये हैं, वह पेढाल द्विजके पुत्र है, 'उनकी माताका नाम सत्यकी है, तथा जन्मनक्षत्र मूल है । ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ? (जो तीन भाग कहे गये हैं, उनके प्रत्येकके माता पिता तथा जन्मनक्षत्र भिन्न भिन्न हैं । किन्तु एकमूर्तिके माता आदि एक ही होते हैं । इसलिये ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर एकमूर्तिके तीन भाग नहीं है—यह आशय है) ॥ २५ ॥

रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।

कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २६ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, रक्तवर्ण=लाल कान्तिवाले, भवेत्=है । महेश्वर=महेश्वरनामके देव, श्वेतवर्ण=शुद्ध कान्ति-वाले है । तथा, विष्णु=विष्णुनामके देव, कृष्णवर्ण=कृष्णकान्ति-वाले, भवेत्=है । तो, एकमूर्ति=एकमूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकते हैं ॥ २६ ॥

मार्था—पुराणोंमें तीनों देवोंकी क्षमिकान्ति मिल मिल बर्णकी कही गयी है। जैसे ब्रह्मा स्वाम कान्तिवाले, महेश्वर श्वेत कान्ति वाले तथा विष्णु कृष्ण कान्तिवाले कहे गये हैं। किन्तु एक मूर्तिकी एक प्रकारकी ही कान्ति होती है, अनक प्रकारकी नहीं। इसलिये मिल मिल बर्णके दानके कारण तीनों देव मिल ही हैं, एक मूर्तिके तीन भाग नहीं। इसलिये उन तीनों देवोंको एक मूर्ति तीन भाग कहना अशुभ है ऐसा अभिप्राय है ॥ २६ ॥

अक्षसूत्री भवेत्पुत्रा द्वितीयः शूलधारकः ।

तृतीयः स्रष्टृप्रकाह एकमूर्ति कथं भवेत् ॥ २७ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मा नामके देव, अक्षसूत्री=अक्षसूत्रके साँछनवाले भवेत्=है द्वितीयः=दूसरे, अर्थात् महेश्वर नामके देव, शूलधारक=शूल त्रिशूलक धारक-धारण करनेवाले अर्थात् त्रिशूल-साँछनवाले तथा, तृतीयः=तीसरे विष्णुनामके देव, स्रष्टृ प्रकाह=सृष्ट तथा चक्रक बह-साँछनवाले कहे गये हैं। तो, एकमूर्ति=एकमूर्ति कथम्=कैसे, भवेत् ? =हा सकते हैं ! ॥ २७ ॥

मार्था—पुराणोंमें प्रत्येक देवके साँछन मिल-मिल प्रकारके कहे गये हैं। जैसे ब्रह्माका साँछन अक्षसूत्र महेश्वरका साँछन त्रिशूल तथा विष्णुका साँछन शूलधारक कहे गये हैं। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि एक देवके अनेक अवतार होने परभी साँछन दूसरा

नहा होता । इसलिये लाछन भिन्न होनेसे उक्त नीनो देव एकमूर्ति नहा हो सकते, किन्तु भिन्न मूर्ति ही है । ऐसी स्थितिमें एक मूर्ति तीन भाग कहना अत्यन्त अयुक्त है ॥ २७ ॥

चतुर्मुखो भवेद्ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वरः ।

चतुर्भुजो भवेद्विष्णु रेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

पदार्थ-ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, चतुर्मुखः=चारमुखवाले, भवेत्=है, अथ=तथा, महेश्वर=महेश्वर नामके देव, त्रिनेत्र=तीन नेत्र वाले है, विष्णुः=विष्णु नामके देव, चतुर्भुज=चार भुज-बाहुवाले, भवेत्=है । तो, एकमूर्ति=एक मूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकते हैं ? ॥ २८ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें ब्रह्मा चतुर्मुख कहे गये हैं, (किन्तु तीन नेत्रवाले नहीं ।) तथा महेश्वर त्रिनेत्र कहे गये हैं, (किन्तु चतुर्मुख नहा ।) विष्णु चतुर्भुज कहे गये हैं, (किन्तु चतुर्मुख या त्रिनेत्र नहीं ।) तो एक मूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ? । यदि मूर्ति एक माना जाय तो विष्णुकोभी त्रिनेत्र तथा चतुर्मुख, एव महेश्वरकोभी चतुर्मुख तथा चतुर्भुज तथा ब्रह्माकोभी त्रिनेत्र तथा चतुर्भुज कहा जाता । किन्तु ऐसा नहीं है, चतुर्भुजसे विष्णु तथा त्रिनेत्रसे केवल महेश्वर तथा चतुर्मुखसे केवल ब्रह्मा ही समझे जाते हैं । इसलिये एक मूर्ति तीन भाग नहीं, किन्तु तीनों पृथक् पृथक् मूर्ति ही हैं ॥ २८ ॥

स्वयं नही है । इसलिये तीनो देव एकमूर्ति तीन भाग नही हैं—
यह मात्र है) ॥ ३१ ॥

कृते जातो भवेत्प्रजा संतार्या च महेश्वरः ।

विष्णुश्च द्वापरे जात एकमूर्ति कथमभेत् ? ॥ ३२ ॥

पदार्थ—प्रजा=प्रजानामक वंश, कृत=कृतयुग-सत्ययुग,
जातः=उत्पन्न भवेत्=हुए थे, च=तथा महेश्वरः=महेश्वरनामके
देव त्रेतायाम्=त्रेतायुगमें (उत्पन्न हुए थे ।) च=और विष्णुः=
विष्णुनामके देव, द्वापरे=द्वापरनामक युगमें, जातः-उत्पन्न हुए थे ।
ता एकमूर्तिः=एकमूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत् ?=हो सकते
हैं ? ॥ ३२ ॥

माध्वार्थ—पुराणोंमें सत्ययुग त्रेता द्वार तथा कलियुग
में चारयुग कहे गये हैं । तथा सत्ययुगमें ब्रह्माक्ष त्रेतायुगमें मह
श्वरक्ष, द्वापरयुगमें विष्णुका अवतार वर्णित है । ता एकमूर्ति कैसे
हो सकते हैं ? (अब एकमूर्ति ॥ तो प्रत्येक देवका पूजक अवतार
का वर्णन भ्युक्त हो आया । एकमूर्ति मानने पर एक देवका
अवतार दूसरे देवकामी अवतार कहा जायगा । किन्तु ऐसा
स्वयं नही है । एक देवका अवतार दूसरे देवका नहीं कहा
जाता । इसलिये तीनो देव एकमूर्ति नहीं हैं—ऐसा आशय है)
॥ ३२ ॥

ज्ञानं विष्णुः सदा प्रोक्तं ब्रह्म पारितोष्यते ।

सम्यक्त्वं तु

॥ ३३ ॥

पदार्थ—ज्ञानम्=केवलज्ञान, सदा=सर्वदा, विष्णुः=विष्णु, प्रोक्तम्=कहा गया है, चारित्रम्=चारित्र - सर्व सवाद्यविरति - सयम, ब्रह्मा=ब्रह्मा, उच्यते=कहा जाता है, तु=तथा, सम्यक्त्वम्=सम्यक्त्व - सम्यग्दर्शन - जिनोक्ततत्त्वोंमें श्रद्धा, शिव=शिव - महेश्वर, प्रोक्तम्=कहा गया है । इसलिये, अर्हन्सूक्ति=तीर्थङ्करकी मूर्ति-तीर्थङ्कर, त्रयात्मिका=तीनों - ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वरस्वरूप है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—(उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि परतीर्थिकोंके महादेवके विषयमें 'एकमूर्ति तीन भाग' वाली बात घटित नहीं होती । तथा पूर्वमें यह भी कहा जा चुका है कि अर्हत् हीं ज्ञान, चारित्र तथा दर्शनके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर स्वरूप हैं । उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि—) केवल-ज्ञान सदा हीं विष्णु कहा गया है । (पुराणोंमें पालक तथा व्यापक देवको विष्णु कहा गया है । केवलज्ञान कर्मशत्रुका नाशकरके उससे रक्षण करता है, तथा सर्वद्रव्यपर्यायविषयक होनेसे व्यापक-भी है, इसलिये पारमार्थिक रूपसे केवलज्ञान ही विष्णु है—यह भाव है ।) चारित्र सदा ब्रह्मा कहा जाता है । (पुराणों में जगत् के सर्जन करनेवालेको ब्रह्मा कहा गया है । चारित्रभी सिद्धिरूपी स्रष्टा करनेवाला - सिद्धिप्रद है, इसलिये वास्तविक रूपसे चारित्रहीं ब्रह्मा है—यह अमिप्राय है ।) तथा सम्यक्त्वको शिव कहा गया है । (पुराणोंमें जगत्के सहार करनेवालेको शिव-महेश्वर कहा गया है । सम्यक्त्वभी कर्मोंके क्षयोपशमका हेतु होनेसे शिव कहा

जाता है । क्योंकि वस्तुतः कर्मके नाशसे ही जगत्-भक्त्य नाश होता है । इसलिये सम्यक्त्व ही तात्त्विक रूपसे शिव है—यह आशय है । इन तीनों गुणोंसे युक्त अर्हत् तीर्णहर हैं । इसलिये वेही एकमूर्ति तीन ब्रह्मा, विष्णु तथा महाेश्वररूप भाग हैं—अर्थात् तीर्णहर एकमूर्ति हैं, एवं उनके केवल वर्त्तन ज्ञान का चारित्रिकी तीन पर्याय ही ब्रह्मा विष्णु तथा महाेश्वररूप भाग हैं—ऐसा तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः ।

इत्यंतेष्टौ भगवति गीता वीतरागे सुगुणाः ॥ ३४ ॥

पदार्थ—क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः=क्षिति पृथिवी जल, पवन, हुताशन—अग्नि, यजमान ऋषी, आकाश सोम अन्न तथा सूर्य आत्मा नामवाक्ते इति एते=ये सभी अष्टौ=आठ, सुगुणा=उत्तमगुण भगवति=भगवान् वीतरागे=वीतरागने गीताः=वर्णित हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—(पुराणोंमें परतीर्थिक महादेवकी पृथिवी आदि आठ मूर्तियाँ कही गयी हैं । किन्तु एकमूर्ति अष्टमूर्ति नहीं हो सकते—यह बात पूर्वमें एकमूर्तिके तीर्णमूर्ति नहीं होनेमें कही गयी युक्तियोंसे ही स्पष्ट है । किन्तु) वीतरागके क्षिति, जल, पवन, हुताशन, यजमान, आकाश, सोम तथा सूर्य ये आठ उत्तमगुण कहे गये हैं । (इसलिये वीतराग ही अष्टगुणयुक्त होनेके कारण अष्टमूर्ति है यह मूल है) ॥ ३४ ॥

क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।

निःसङ्गता भवेद्वायुर्हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥

पदार्थ—क्षान्ति.=क्षमा, क्षिति:=क्षिति, इति=इस शब्दसे, उच्यते=कही जाती है । च=और, या=जो, प्रसन्नता=निर्मल-रूप गुण है, वह, जलम्=जल (कहा जाता है ।) निःसङ्गता=वीतरागपन, वायुः=पवन नामका गुण, भवेत्=है । तथा, योग=शुक्लध्यान, समाधि, हुताशः=अग्निनामका गुण, उच्यते=कहा जाता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—(वीतरागके क्षिति आदि आठ गुणोंका स्वरूप बताते हैं, जैसे—) क्षिति - पृथिवी सर्वसहा कही जाती है । वह शुभ या अशुभ - सब कुछ सहन करती है । इसलिये शक्ति रहने परभी किसीके अपराधका सहनरूप क्षमा ही क्षितिनामका गुण कहा गया है । जल निर्मल होता है तथा दूसरेको भी निर्मल करता है, इसलिये कर्मके सर्वथा क्षय होजानेसे आत्माकी निर्मलताही जलनामका गुण है । किसी भी विषयमें रागका नहीं होना - वीतरागता ही - पवन नामका गुण है । क्योंकि पवन मिट्टी या पानीके जैसे किसीभी वस्तुमें आसक्त नहीं होता । तथा अग्नि सभी पदार्थोंको जला देता है, योगभी सकल कर्मोंका नाश करता है । इसलिये योग अग्नि-नामका गुण कहा गया है ॥ ३५ ॥

यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः ।

अलेपकत्वादाकाशसङ्काशः सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥

पदार्थ—आत्मा = जीव, तीर्थहरकी आत्मा, तपोदान
 दयादिभिः—तप दान तथा दया आदिगुणोंसे, यजमानः = यजमान
 ऋषी, भवेत् = होती है। तथा, सः = वह आत्मा, बलेपकत्वात् =
 कहींभी छिप्त आसक्त नहीं होनेसे, अथवा कर्मभूतसे छिप्त नहीं
 होनेके कारण आकाशसङ्घातः = आकाशसङ्घात, अभिधीयते = कही
 जाती है ॥ ३६ ॥

मार्थ—आत्मा तप, दान, दया आदि गुणोंके होनेसे
 यजमानरूप है। अर्थात् तप दान दया आदि ही यजमान नामके
 गुण हैं। तथा उनगुणोंके होनेसे आत्मा ही यजमान है। क्योंकि
 ऋषीके पक्कन करनेवालेको ही यजमान कहा जाता है। तथा वह
 आत्मा कर्मसे रहित होनेसे निर्लेप हो जाती है। अर्थात् पक्कन
 सकलकर्मोंके क्षय होजाने पर पुन उसमें कर्मलेप नहीं लगता।
 इसलिये निर्लेप आत्मा आकाशरूप कही जाती है। अर्थात् आत्माली
 निर्लेपता आकाश नामका गुण है ॥ ३६ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिबन्धो धीतरागः समीक्ष्यते ।

ज्ञानप्रकाशदृष्ट्येन स आदिष्योऽभिधीयते ॥ ३७ ॥

पदार्थ—धीतरागः = धीतराग श्रीजिनेश्वर, सौम्यमूर्ति
 रुचिः = सौम्य मधुर मूर्ति शरीर, रुचि अग्नि, मधुर-शरीर
 कान्तिवाले हैं इसलिये, बन्धु = पन्थानाके भैसे, समीक्ष्यते = बीसते
 हैं। तथा, सः = वह धीतराग जिनेश्वर, ज्ञानप्रकाशदृष्ट्येन = ज्ञान-
 ज्ञानके द्वारा प्रकाशकत्व पञ्चदशकर्म प्रकाशितकरनेवा लभतराग

होनेके कारण, आदित्यः=सूर्यसमान, अभिधीयते=कहे जाते हैं
॥ ३७ ॥

भावार्थ—वीतराग श्रीजिनेश्वरके शरीरकी कान्ति मधुर है, इसलिये वह चन्द्रके जैसे दीखते हैं। अर्थात् उनके शरीरकी मधुर आहादक कान्ति चन्द्रनामका गुण है। (क्योंकि चन्द्रभी आहादक है।) तथा वे ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करते हैं। अर्थात् सभी प्राणियोंको सम्यग्ज्ञानका उपदेश देकर उनके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करते हैं, तथा मुक्तिमार्गका प्रकाशन करते हैं। अथवा वीतरागका ज्ञान सर्वपदार्थको ग्रहण - प्रकाशित करता है, इसलिये वे ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्में प्रकाशमान हैं, अतः वे सूर्यसमान कहे जाते हैं। (क्योंकि सूर्यभी अपने किरणोंके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है। इसलिये वीतराग जिनेश्वरका ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशन सूर्यनामका गुण है - यह भाव है। यहाँ इस प्रकार क्षिति आदि आठ गुणोंके होनेसे वीतराग जिनेश्वर अष्टमूर्ति हैं। किन्तु परतीर्थिकोंके अनुसार एकमूर्तिका अष्टमूर्ति होना असम्भवित है। इसलिये परतीर्थिकोंके दृष्ट महादेव अष्टमूर्ति नहीं हैं। तथा उनमें रागद्वेष आदि होनेसे क्षमा आदि उक्तप्रकारके आठ गुणभी नहीं हैं। अतः इस प्रकारसे भी वे अष्टमूर्ति नहीं होसकते। किन्तु शब्दमात्रसे ही अष्टमूर्ति हैं - यह निष्कर्ष है) ॥ ३७ ॥

पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।

अहंस्तस्य नमस्कारः कर्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥

पदार्थ—अर्हन् = श्रीवीतराग अरिहन्त तीर्थंकर, रागद्वेष-विषमिन्त = राग-विषयासक्ति, द्वेष-अनिष्ट विषयोमें अप्रीति, विवर्धित-रहित, रागद्वेषसे रहित हैं—वीतराग हैं। इसलिये, पुण्यपापविनिर्मुक्तः = पुण्य-शुभकर्म, पाप-अशुभकर्म, विनिर्मुक्त रहित, पुण्य तथा पापसे रहित मुक्त हैं। अतः, शिवम् = कस्यापकी, इच्छता = इच्छा करनेवालेको = कस्याप चाहनेवालेको तस्य = उस वीतराग अरिहन्तका ही, नमस्कार = नमस्कार प्रणाम-कन्दन-भक्ति, कर्तव्य = करना चाहिये। कस्याप चाहनेवाले वीतरागकी ही भक्ति करें ॥ ३८ ॥

भावार्थ तीर्थंकर रागद्वेषसे रहित वीतराग हैं तथा सम्पूर्ण ज्ञान एवं आरित्रक पाकनसे उनके सभी कर्मोंका क्षय हो गया है। अतः वे मुक्त हैं। क्योंकि रागद्वेषसे तथा पुण्य पापसे मुक्त ही मुक्त कहे जाते हैं। इसलिये कस्याप चाहने वालेको उनकी ही भक्ति करनी चाहिये। (जो देव रागद्वेष आदिसे मुक्त हैं, वे मुक्त नहीं हैं। अतः उनकी भक्तिसे रागद्वेषका ही क्षय हो सकता है कस्याप मुक्तिकार नहीं। अतः अन्य देवोंकी भक्ति त्याग्य है—मह मय है) ॥ ३८ ॥

अकारेण भवेद्विष्णु रफे ब्रह्मा व्यपस्थितः ।

इकारेण हरः प्रोक्तस्तस्माज्जन्ते परमं पदम् ॥ ३९ ॥

पदार्थ—अकारेण = अर्ह 'मह मन्त्र अपने आदिमें स्थित अकाररूप ब्रह्मसे, विष्णु = विष्णुस्वरूप भवेत् = है तथा रफे = 'अर्ह' इस मन्त्रके रेफरूप ब्रह्ममें, ब्रह्मा = ब्रह्मा नामके देव,

व्यवस्थित = रहे हुए है । हकारेण = 'अर्ह' इस मन्त्रके हकार-
रूप वर्णसे, हर = महेश्वर, प्रोक्त = कहे गये हैं । तस्य = उस हकार-
रूप वर्णके, अन्ते = अन्तमें-ऊपरमें रहा हुआ अर्धचन्द्रविन्दु, परमम्
= सर्वोच्च, पदम् = पद - सिद्धशिला है ॥ ३९ ॥

भावार्थ — जिनेश्वर श्री अरिहन्त देवका 'अर्ह' यह मन्त्र
ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा परमपद स्वरूप है । जैसे अकाररूप वर्ण-
अच्युत आदि विष्णुवाचक शब्दोंमें अकार होनेसे - विष्णुका प्रतीक
है । तथा रेफरूप वर्ण-ब्रह्माशब्दमें रेफ होनेसे - ब्रह्माका प्रतीक
है । एव हकाररूपवर्ण - हर आदि महेश्वरवाचक शब्दोंमें हकार
रहनेसे - महेश्वरका प्रतीक है । तथा अर्धचन्द्रविन्दु सिद्धाशिलाके
आकारका होनेसे - परमपदका प्रतीक है । और 'अर्ह' इस
मन्त्रके देवता तीर्थकर जिनेश्वर हैं । इसलिये जिनेश्वर, शब्दसे
ब्रह्मा आदि स्वरूप हैं । गुणसे जिनेश्वरका ब्रह्मा आदि स्वरूप होनेका
पूर्वमें प्रतिपादन किया जा चुका है ॥ ३९ ॥

अकार आदि धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः ।

स्वरूपं परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥

पदार्थ — अकार = 'अर्हन्' इस पदके आदिका अकाररूप
वर्ण, आदिधर्मस्य = आदि - मुख्य तथा सर्व प्रथम उपदिष्ट होनेके
कारण सभी धर्मोंके आदिभूत धर्मका च = तथा, मोक्षस्य = मोक्षका,
आदि मोक्षका, प्रदेशक = प्रतिपादक है । तथा, स्वरूपम् = अरिहन्तके
स्वरूपभूत, परमज्ञानम् = परम - सर्वोत्कृष्ट ज्ञान - केवलज्ञान - आदि

शान है, तेन=इसलिये, अकार=अर्हन् पदका आविष्ट अकार, प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४० ॥

मातार्थ अकाररूप वर्ण मातृक्षपाठमें प्रथम अक्षर है, एवं अर्हन् पदकेभी आविष्ट है । इसलिये यह, तीर्थहरने मुख्य एवं सर्वप्रथम शुभ्रदिमें धर्मक्षत्र उपदेश किया जा, तथा वे ही सर्वप्रथम धार्मिक पावन कर मुक्त हुए थे, एवं वे परमज्ञान के स्वयं स्वरूप थे इन सभी मातृका जोतक है । इसलिये अर्हन् पदके आविष्ट अकार कहा गया है । अर्थात् अर्हन् पदका प्रथम अक्षर अकार तीर्थक्षत्रसे उपदिष्ट धर्म ही आविष्ट धर्म है, तथा वे ही धर्म मुक्त एवं आविष्ट केवलज्ञानी हैं—एसा सूचित करवा है । इन सभी धर्मोंकी सूचना केलिये ही अर्हन् पदमें सर्वप्रथम अकाररूप अक्षर कहा जाता है—यह आशय है ॥ ४० ॥

रूपिद्वयस्वरूप वा दृष्टा ज्ञानेन चक्षुषा ।

दृष्टं लौक्यलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

पदार्थ-ज्ञानेन=ज्ञानरूप, चक्षुषा=नेत्रसे रूपिद्वयस्वरूपम् =रूपि मूर्त द्रव्य पुद्गल, स्वरूप तत्त्व, पुद्गलके अनेकान्तरूप यवार्कतत्त्वको दृष्टा=मानकर, वा=पुन, लौक्यम्=भौदह रज्जुममाण लोककाशमें अवस्थित सभी द्रव्यों तथा उनके पर्याप्तको, वा=तथा अलौक्यम्=लोकसे अनिश्चित अलोककाशको, दृष्टम्=(केवलज्ञान रूपी नेत्रसे) ज्ञाने ये तेन=इसलिये रकार=अर्हन् पदमें रेफ, प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ - तीर्थकरने संसारी अवस्थामें मति, श्रुत तथा अवधि-
ज्ञानसे युक्त होनेके कारण सभी पुद्गलोंके यथार्थ तत्त्वको ज्ञानरूपी
नेत्रसे जानकर, (दीक्षा ग्रहणके बाद घातिकर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान
होनेपर उस केवलज्ञानरूपी नेत्रसे) लोक तथा अलोकको देखे-जाने
थे। इसलिये अर्हत् पदमें प्रथम रूपी द्रव्योंके पश्चात् सभी पदार्थोंके
क्रमशः ज्ञानका सूचक रेफ कहा जाता है। (क्योंकि रूपिशब्दमेंभी
रेफ वर्ण है, तथा अर्हन्-तीर्थकर केवलज्ञानी हैं। इसलिये
दोनोंके क्रमका सूचन रेफके द्वारा किया जाता है) ॥ ४१ ॥

हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषहाः ।

हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥

पदार्थ - येन=चूकि, रागाः = विषयासक्तियोंका, च=और,
द्वेषाः=अनिष्ट विषयमें अप्रीतियोंका, हताः=नाश - त्याग किये, च=
पुनः, मोहपरीषहा =मोह - ममता, परीषह-भूख, प्यास, ठढी, गरमी
आदि बार्हम परीषह - इन सभीका, हता =नाश - त्याग तथा सहन
किये हैं। तथा, कर्माणि=शुभ तथा अशुभ कर्मोंका, हतानि=क्षय किया
है, तेन=इसलिये - राग, द्वेष, मोह, परीषह तथा कर्मोंका नाश
करनेके कारण, हकार =अर्हन् पदमें हकाररूप अक्षर, प्रोच्यते=
कहा जाता है ॥ ४२ ॥

भावार्थ - चूकि तीर्थकरदेवने सभीप्रकारके राग, द्वेष, मोह,
परीषह तथा कर्मोंका (अपने असाधारण एवं अलौकिक ज्ञान तथा

चारित्रके बलसे) माय किया है। इसलिये राग आदिके इननम सूचक हकाररूप अक्षर आईन् पदमें पड़ा जाता है ॥ ४२ ॥

सन्तोषेणाऽमिसम्पूर्णः प्रातिहार्याऽष्टकेन च ।

ज्ञात्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥

पदार्थ पुण्यम्=शुभकर्म, च=और, पापम्=अशुभकर्मसे, च=भी, ज्ञात्वा=बालकर, सन्तोषेण=सन्तोष आत्मवृत्तिसे, अमि सम्पूर्णः=सभी प्रकारसे भरे हुए—आत्मसुखमय, च=तथा, प्राति हार्याऽष्टकेन=चैत्यवृक्ष छत्र दुन्दुभि आदि आठ प्रातिहार्योंसे (अमिसम्पूर्णः=विराजित) हैं। तेन=इसलिये, नकारः=आईन् पदमें नकाररूप अक्षर प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४३ ॥

मातार्थ अतिद्विन्त श्रीतीर्थकर देवने पुण्य तथा पाप (एव उनके हेतुओं) को जानकर (तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेसे आत्मबोध्य त्याग करके) सन्तोष-उपशमसे युक्त हुए तथा अविष्टमके प्रमदसे समस्त-सरणमें बेसमृद्ध, छत्र, दुन्दुभि आदि प्रातिहार्योंसे विराजित हुए। इसलिये आईन् पदमें नकार पड़ा जाता है। अर्थात् आईन् पदमें रहा हुआ नकार तीर्थकरके पुण्य पापके तत्त्वज्ञान उपशम तथा प्रातिहार्याऽष्टकका सूचक है ॥ ४३ ॥

मन्त्रबीजाऽङ्गुरजनना रागादयः क्षयमुपगता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति कठिकाकर्णमङ्गलीदेमन्त्रार्थविरचिते श्रीमहादेवस्तोत्रे

समाप्तम् ॥

पदार्थ—यस्य=जिसदेवके, भवबीजाऽङ्कुरजननाः=भव-
संसार, बीजाऽङ्कुर - मूलभूतकारण, जनन - उत्पन्नकरनेवाले - साधन -
संसारके मूलभूतकारणरूप कर्म तथा जन्म आदिके हेतुभूत, रागा-
दयः=रागद्वेष आदि, क्षयम्=नाशको, उपगताः=प्राप्त होगये हैं -
नष्ट होगये हैं । वह, ब्रह्मा = ब्रह्मानामके देव हों, वा = अथवा,
विष्णुः=विष्णुनामके देव हो, चा=अथवा, हरः=महेश्वरनामके देव
हों, या=अथवा, जिनः=जिनेश्वर तीर्थकर हों, तस्मै=उन वीतराग-
देवको, नमः=मेरा नमस्कार है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—भवके आदि तथा मुख्यकारणरूप रागद्वेष आदि
जिन देवके नष्ट होगये हैं, अर्थात् जो देव वीतराग हैं । वे नामसे
ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर या जिनेश्वर - कोईभी हों, उनको मेरा प्रणाम
है । (क्योंकि गुणसे ही किसीकी पूजा होती है, केवल व्यक्तिकी
नहीं । ऊपरके विवेचनोंसे - जिनेश्वर ही वीतराग है, ब्रह्मा आदि
देव नहीं—यह स्पष्ट हो चुका है । फिरभी अपनी तटस्थता सूचित की
गयी है । व्यक्ति कोईभी हों, गुणग्राहीको व्यक्तिके विषयमें पक्षपात
नहीं होता है, किन्तु गुणके विषयमें ही पक्षपात होता है - यह
ध्यान देने योग्य है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहादेवस्तोत्रे तपोगच्छाविपतिशासनसम्राट्कन्दम्वगिरि—
प्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वर-पट्टाल-
ङ्कार - समयज्ञ - शान्तमूर्त्यार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वर - पट्टधर -

सिद्धान्तमहोरभि-माहृतविद्वितारवाचार्थपर्यभीरिष्यकम्पूरसूरीधरतिन्य-
 पन्यामभीकीर्तिषन्त्रिजयगणितिरचिन्. फीर्तिफलाख्यो हिन्दी-
 माषानुवाद् समाप्त ॥

॥ धीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥

॥ श्री ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित
कीर्तिकलाव्याख्या-सहितानि पुस्तकानि—

द्वालिङ्गिकाद्वयी (क स. हेम. विरचिता-अयोगव्यवच्छेदद्वालिङ्गिका
तथा अन्ययोगव्यवच्छेदद्वालिङ्गिका) कीर्तिकलासंस्कृतव्याख्या
सहिता ।

द्वालिङ्गिकाद्वयी कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहिता ।

श्रीवीतरागस्तवः (क स हेम विरचित) कीर्तिकलासंस्कृतव्याख्या-
सहित ।

श्रीवीतरागस्तवः कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।

स्तोत्रत्रयी (क स हेम विरचितानि सकलार्हत्त्वोत्रवीरजिनस्तोत्र-
महादेवस्तोत्राणि) कीर्तिकलाख्यसंस्कृतहिन्दीव्याख्यासहिता ।

स्तोत्रत्रयी कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहिता ।

प्राप्तिस्थानम्—

श्रीजनकलाल कान्तिलाल

लिम्बडी शेरी, पेटलाद

वाया—आणन्द (गुजरात)

